

ज्ञानधारा-कर्मधारा

(आचार्य अमृतचन्द्र विरचित समयसार कलश ११० एवं पण्डित दीपचन्दजी कासलीवाल कृत अनुभवप्रकाश ग्रन्थ के अन्तर्गत मिश्रधर्म अधिकार पर हुये आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के प्रवचन)

अनुवादक एवं सम्पादक
जितेन्द्रकुमार वि. राठी
शास्त्री, साहित्याचार्य, एम.ए.(हिंदी)

प्रकाशक

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-४, बापूनगर, जयपुर (राजस्थान) ३०२०१५
फोन : (०१४१) २७०५५८१, २७०७४५८; फैक्स : २७०४१२७
E-mail : ptstjaipur@yahoo.com

प्रथम संस्करण : २ हजार
(दिनांक ३१ मार्च २००७)
२६०७ वाँ भगवान महावीर जन्मोत्सव

मूल्य : ८ रुपये

टाईपसेटिंग :
त्रिमूर्ति कम्प्यूटर्स
ए-४, बापूनगर, जयपुर

मुद्रक :
प्रिन्ट 'ओ' लैण्ड
बाईस गोदाम, जयपुर

प्रकाशकीय

‘ज्ञानधारा-कर्मधारा’ नामक इस नयी साहित्य कृति को पाठकों के कर-कमलों में देते हुए हमें सात्त्विक एवं तात्त्विक आनंद हो रहा है। साथ ही इस कृति के उद्गम का कारण बताए बिना भी मैं रह नहीं पा रहा हूँ।

श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट, मुम्बई द्वारा प्रतिवर्ष अगस्त माह में श्री टोडरमल स्मारक भवन में आध्यात्मिक शिक्षण शिविर का आयोजन किया जाता है।

इस क्रम में वर्ष २००६ के अगस्त शिविर हेतु श्री कुन्दकुन्द कहान दिग. जैन तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट से मुझे एक पत्र प्राप्त हुआ; जिसमें शिविर में गुणस्थान विषय को छोड़कर अन्य विषय की कक्षा लेने के संबंध में मुझसे कहा गया था।

यद्यपि मैं तत्त्वार्थसूत्र, द्रव्यसंग्रह, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय आदि अनेक मूल ग्रंथों में से किसी एक ग्रंथ को लेकर कक्षा ले सकता था; तथापि मन में विचार आया कि जिसप्रकार अन्य विद्वानों के विषय की अपेक्षा मेरा गुणस्थान विषय नया एवं निराला है, उसीप्रकार इस शिविर के कक्षा का विषय भी ऐसा ही कुछ नवीन होना चाहिये।

स्वाध्याय तो मेरे जीवन का अभिन्न अंग है ही। कुछ समय से मैं पण्डित दीपचन्दजी कासलीवाल रचित अनुभवप्रकाश ग्रन्थ पर आध्यात्मिक सत्पुरुषश्री कानजीस्वामी के प्रवचनों को पढ़ रहा था; जिसमें एक मिश्रधर्म अधिकार पढ़ने को मिला। मुझे यह विषय अत्यन्त प्रिय लगा। इसका एक कारण यह भी था कि मेरे विद्यार्थी जीवन में यह विषय मुझे स्पष्ट समझ में नहीं आता था और स्वामीजी के प्रवचन पढ़ने से यही विषय मुझे अच्छीतरह विशेषरूप से स्पष्ट समझ में आ गया, अतः शिविर में मिश्रधर्म विषय पर ही कक्षा लेने का मैंने मानस बनाया और कक्षा ली, जिससे यह मिश्रधर्म विषय सभी को पसन्द आया और कक्षा भी लोकप्रिय हो गई।

मेरा उत्साह और बढ़ गया। आगम में अन्य जिन-जिन स्थानों पर मिश्रधर्म के संबंध में स्वामीजी के प्रवचन हुये हैं, उन सभी का संकलन करने का मैंने प्रयास किया।

इस प्रयास में समयसार कलश, समयसार कलश टीका, मोक्षमार्ग प्रकाशक के सातवें अध्याय का विशिष्ट अंश, अनुभवप्रकाश का मिश्रधर्म अधिकार तथा अध्यात्मसंदेश एवं परमार्थवचनिका के कुछ प्रवचन एवं प्रवचनांश मिले। उन सभी को इस कृति में संग्रहीत किया गया है।

स्वाध्यायप्रेमी समाज को यह विषय अवश्य ही प्रिय व प्रियतर होगा – ऐसी मुझे आशा ही नहीं; अपितु पूर्ण विश्वास है; क्योंकि यह सम्पूर्ण माल युगपुरुष श्रीस्वामीजी का है।

पाठकों से मेरा नम्र निवेदन है कि और अन्य जगह जहाँ पर भी ज्ञानधारा एवं कर्मधारा के संबंध में विशिष्ट विषय आया हो, उसकी जानकारी मुझे पत्र द्वारा देने का कष्ट अवश्य करें।

यहाँ मिश्रधर्म के नाम को गौण करके समयसार कलश क्रमांक ११० में इसी विषय को 'ज्ञानधारा-कर्मधारा' नाम से आचार्य श्री अमृतचन्द्रदेव ने स्वीकृत किया है; अतः हमने इस समग्र साहित्य कृति का नाम भी 'ज्ञानधारा-कर्मधारा' रखना ही उचित समझा।

इस कृति के लिए पण्डित जितेन्द्रकुमार राठी, शास्त्री जयपुर ने विशेष कष्ट उठाये हैं। सम्पूर्ण प्रवचनों का गुजराती भाषा से हिन्दी भाषा में अनुवाद करना, सम्पादन करना, प्रूफ देखना आदि सम्पूर्ण काम विशेष मनोयोगपूर्वक एवं रुचि के साथ किया; एतदर्थ हम उन्हें हार्दिक धन्यवाद देते हैं। अन्य भी अनेक साहित्य संबंधी कार्य वे इसीप्रकार करते रहेंगे – ऐसी हमारी आशा है।

प्रस्तुत कृति के सुन्दर प्रकाशन के लिए श्री अखिलजी बंसल एवं सुन्दर टाइप सैटिंग को विशेष लगन के साथ करनेवाले श्री कैलाशचन्द्रजी शर्मा को भी हम हार्दिक धन्यवाद देते हैं।

प्रस्तुत कृति को अल्प मूल्य में उपलब्ध कराने का प्रशंसनीय कार्य दान-दातारों के सहयोग से ही संभव हो पाया है, इसलिए दातारों को भी धन्यवाद।

पाठक इन प्रवचनों का मनोयोगपूर्वक जरूर लाभ लेंगे ही – इसी विश्वास के साथ –

ब्र. यशपाल जैन, एम.ए.

प्रकाशन मंत्री, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर

प्रस्तावना

पूर्व पुण्योदय से बचपन में माता-पिताजी के संस्कारवश धर्म के संबंध में सामान्यतः अपनापन था। योगानुयोग से श्री बाहुबली ब्रह्मचर्याश्रम, कुंभोज बाहुबली-कोल्हापुर में लौकिक एवं धार्मिक शिक्षण का लाभ मिला।

जब से थोड़ा-थोड़ा धर्म समझ में आने लगा, तभी से धार्मिक व्यक्तियों के व्यावहारिक जीवन को देखने की जिज्ञासा बनी रहती; किन्तु समाज में 'धार्मिक' नाम से प्रसिद्ध लोगों के जीवन को जब मैं क्रोधादि कषाय से संयुक्त देखता तो मुझे बहुत ही अटपटासा लगता था। मुझे लगता कि – धर्म तो अच्छा है; लेकिन धर्म का आलंबन लेने वाले लोग जितने चाहिए उतने अच्छे नहीं हैं। मुझे बारंबार विचार आता कि ये लोग धर्म जानते हुए भी क्रोधादि कषाय क्यों करते हैं? घर में क्यों रहते हैं? मुनि बनकर जंगल में रहकर विशेष तपश्चर्या करके, केवलज्ञान प्राप्त करते हुए सिद्ध परमात्मा क्यों नहीं बनते? देर क्यों कर रहे हैं? उनको समझानेवाला कोई नहीं है क्या? ये लोग समझते हुए भी नासमझी क्यों करते हैं? मैं तो धर्म समझ में आने के बाद ऐसा नहीं करूँगा। इन लोगों के समान क्रोधादि नहीं करूँगा, घर में भी नहीं रहूँगा – इन सबको यथार्थ बात अवश्य समझाऊँगा।

प्रथमानुयोग के शास्त्रों में अनेक राजा, प्रधान, व्रती श्रावक और मुनिराज इत्यादि के जीवन चरित्र को पढ़कर भी अन्दर से मुझे उन धार्मिक लोगों के जीवन से असंतुष्टि ही रहती थी।

मैं हमेशा सोचता रहता था कि धर्म समझ में आने के बाद धर्म का आचरण पूर्णरूप से ही जीवन में लाना चाहिए।

जब सागार-धर्माभूत शास्त्र का अध्ययन करने का पुण्य अवसर प्राप्त हुआ तब यह भी जानकारी मिली कि इस शास्त्र के रचनाकार/रचयिता पंडितजी है, श्रावक है, मुनि या आचार्य नहीं। साथ ही एक दिन यह भी सुनने को मिला कि इन्होंने ही अनगार धर्माभूत शास्त्र भी लिखा है; जिसमें मुनिराज के सम्यक् आचरण का वर्णन किया है।

श्रावक होते हुए भी मुनिराज के जीवन का स्वरूप लिखने का उन्हें क्या अधिकार ? उनको यह लिखना नहीं चाहिए; ऐसा विचार मेरे मन में आता था, फिर धर्म पढ़ानेवालों से मैंने सुना – जीवन में आचरण नहीं है तो क्या हुआ ? उनको मुनि-जीवन संबंधी ज्ञान था सो उन्होंने लिखा है। उसमें गलती क्या हुई ? तब मुझे थोड़ा-बहुत विषय यह समझ में आया कि ज्ञान होना अलग बात है और उस विषय को आचरण में आना अलग बात है।

शास्त्र में यह भी पढ़ने को मिला कि सम्यग्दर्शन होने के बाद भी मनुष्य शादी करता है, युद्ध भी करता है। छह खण्ड का अधिपति भी बन सकता है। चक्रवर्ती को ९६ हजार रानियाँ रहती हैं तो भी वह धार्मिक माना जाता है। यह समझकर आचरण का स्वरूप क्या ? कैसा ? इत्यादि सम्बन्ध में मेरी जिज्ञासा और भी अधिक बढ़ गयी।

चौबीस तीर्थकरों में से तीन तीर्थकर गृहस्थ जीवन में चक्रवर्ती और कामदेव थे। इतना सब परिग्रह होते हुए भी वे मोक्षमार्गी थे। इतना परिग्रह और मर्यादितरूप से हिंसादि पाँच पाप रहते हुए भी आंशिक धर्म उनके जीवन में व्यक्त है। यह क्यों और कैसे होता है? यह जिज्ञासा मेरे जीवन में विशेष रही।

इस जिज्ञासा के साथ ही मैं शास्त्र-स्वाध्याय करता रहा। इसी कालावधि में मुझे 'मिश्रधर्म' के संबंध में मोक्षमार्गप्रकाशक में **संवरतत्त्व का अन्यथारूप** (पृष्ठ : २२८) में मिश्रभाव पढ़ने को तो मिला; किन्तु मिश्रभाव का स्वरूप समझ में नहीं आया। स्वाध्याय करते-करते समयसार कलश ११० की सम्पूर्ण विषयवस्तु पढ़ने को मिली, जिससे मेरे मन को संतुष्टि हुई।

इसी विषय का विशेष अध्ययन करते हुए पण्डित दीपचंदजी शाह कृत अनुभवप्रकाश ग्रंथ के मिश्रधर्म अधिकार पर आध्यात्मिक सत्पुरुषश्री कानजीस्वामी के प्रवचन पढ़ने को मिले, जिससे विषय की अत्यधिक स्पष्टता हुई और मुझे अन्तरंग में विशेष-विशेष आनंद हुआ।

मुझे जो विषय अति कठिनाई से समझ में आया था, वह विषय साधर्मियों को सहज समझ में आवे, इसी वात्सल्यभाव के कारण यह कृति पाठकों के हाथ देने का प्रयास किया है।

– ब्र. यशपाल जैन, एम.ए., जयपुर

सम्पादकीय

देवाधिदेव सर्वज्ञ भगवतों द्वारा कथित दिव्यध्वनि को अध्यात्म के प्रतिष्ठापक कुन्दकुन्दादि आचार्यों ने जिस गंभीरता व सहजता के साथ लिपिबद्ध किया है, उसी गंभीरता व सहजता के साथ आध्यात्मिकसत्पुरुष पूज्य श्री कानजीस्वामी ने जिनवाणी के अनेक गूढ़तम सिद्धान्तों को जन-जन के कल्याणार्थ उद्घाटित किया। गुरुदेवश्री द्वारा किये गये जिनवाणी के इस परम रहस्योद्घाटन को पढ़ने व समझने में जिस आनन्द की प्राप्ति होती है, वह निश्चित ही शब्दातीत है।

इसी क्रम में आचार्य अमृतचन्द्रदेव द्वारा विरचित समयसार कलश ११० में समागत 'कर्मज्ञानसमुच्चयोऽपि' शब्द पर गुरुदेवश्री द्वारा जो विवेचन किया गया, वह भी अपूर्व है। यद्यपि यह विषय गुजराती भाषा में उपलब्ध था; किन्तु हिन्दी भाषा में यह विषय इसप्रकार एक साथ कहीं प्राप्त नहीं था।

आदरणीय ब्र. यशपालजी जैन (अण्णाजी) ने महाविद्यालय के विद्यार्थियों हेतु अपने प्रवचनों के क्रम में उक्त विषय को पण्डित दीपचन्दजी कासलीवाल कृत अनुभवप्रकाश ग्रन्थ के अन्तर्गत मिश्रधर्म अधिकार से लिया, जिसका सम्पूर्ण वर्णन स्वयं उन्होंने प्रकाशकीय व क्यों और कैसे ? में उद्धृत किया है।

इसीसमय अण्णाजी के हृदय में यह विकल्प आया कि गुरुदेवश्री द्वारा प्रतिपादित यह विषय मात्र स्वयं तक ही सीमित न रहकर सभी को प्राप्त हो – इस पवित्र उद्देश्य से गुरुदेवश्री द्वारा समयसार कलश ११० व मिश्रधर्म पर हुये गुजराती प्रवचनों का हिन्दी अनुवाद करने के लिये मुझसे कहा।

एक ओर तो मेरे लिये गुरुदेवश्री के मर्म को समझने का स्वर्ण अवसर था तो दूसरी ओर आदरणीय गुरुवर्य अण्णाजी का मेरे प्रति विशेष स्नेह होने से उन्होंने इस कार्य का सुयोग्य अवसर मुझे दिया।

यह अनुवाद मेरी दृष्टि में केवल भाषा परिवर्तन ही नहीं; अपितु आगम के अभिप्राय को सुरक्षित रखते हुये गुरुदेवश्री की सूक्ष्म कथनी के भावों का अनुगमन करते हुए प्रांजल हिन्दी भाषा में उसकी सहज अभिव्यक्ति करना भी आवश्यक था, अन्यथा थोड़ी सी चूक में अर्थ का अनर्थ होने की संभावना रहती है।

गुजराती से मेरा दूर तक कोई संबंध नहीं था; किन्तु वीतराग-विज्ञान (हिन्दी) में प्रकाशित हो रहे इष्टोपदेश प्रवचनों का अनुवाद करने से गुरुदेव श्री की शैली व भावों से सुपरिचित होने से इस कार्य में विशेष कठिनाई नहीं हुई।

जहाँ कहीं भी गुजराती भाषा का भाव या शब्द समझ में नहीं आता, वहाँ मेरे गुरु व मार्गदर्शक आदरणीय भाईसाहब शांतिकुमारजी पाटील का हमेशा की तरह सहयोग प्राप्त हुआ। बड़ी सरलता से वे पूर्वापर सम्पूर्ण विषय को देखकर तत्सम्बन्धी योग्य निर्देश देते हुये विषय का स्पष्टिकरण करते थे। भाईसाहब के सहयोग के कारण ही मैं निश्चित होकर इस कार्य को पूर्ण कर सका।

इस अनुवाद से मुझे जो आशातीत लाभ मिला है, उसे मैं शब्दों में व्यक्त नहीं कर सकता। पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्रतिपादित एक नवीन विषय को समझने का सुअवसर प्राप्त हुआ। इसकारण गुरुदेवश्री का बहुमान हृदय में और अधिक दृढ़ हुआ है; एतदर्थ गुरुदेवश्री के प्रति अपनी कोटिशः आदरांजलि व्यक्त करता हूँ। इस कार्य में आनन्द व आत्मसंतोष दोनों ही मुझे प्राप्त हुये; क्योंकि जिनवाणी सेवा का सच्चा सुफल यही है।

इसका सम्पूर्ण श्रेय आ. अण्णाजी को ही है; क्योंकि उनके कारण ही यह सम्पूर्ण विषय आज पाठकों के करकमलों में हैं। कहा जाये तो यह कृति उनकी ही है। अण्णाजी ने इस सम्पूर्ण विषय को खोजकर मुझे उपलब्ध कराया और अनेकों बार इसे आद्योपान्त पढकर तदनुसार आवश्यक सुझाव दिये।

जिनवाणी की सेवा करने का जो सुअवसर इन्होंने मुझे दिया उसके लिये मैं दोनों गुरुओं के प्रति अपने भावसुमन अर्पित करते हुये उनका हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ। भविष्य में भी आपके द्वारा सौंपे गये कार्यों को इसीप्रकार पूर्ण करने का मैं अवश्य प्रयास करूँगा।

उक्त कृति में साधक (चतुर्थ से बारहवें गुणस्थानवर्ती) समस्त जीवों के जीवन में एक ही समय, एक साथ शुभाशुभरूप कर्मधारा एवं निर्मल परिणति को स्पष्ट करनेवाली ज्ञानधारा किसप्रकार रहती है तथा उसका फल क्या है? इस विषय को अत्यन्त विशद रीति से स्पष्ट किया है।

कृति में पाठकों को कुछ स्थानोंपर पुनरावृत्ति भी प्रतीत हो सकती है; किन्तु यहाँ उसे गौण करके गुरुदेवश्री के अभिप्राय को अक्षुण्ण रखा है। प्रवचनों का अनुवाद मुख्यतः शाब्दिक है; किन्तु हिन्दी वाक्यविन्यास की दृष्टि से वाक्यों का गठन हिन्दी भाषा के अनुरूप करने का प्रयास किया है। अत्यावश्यक यत्किंचित् परिवर्तन भी हुये हैं; किन्तु उससे विषयवस्तु और भाव में परिवर्तन नहीं हुआ है।

कृति के प्रूफ रीडिंग सम्बन्धी पण्डित संजयजी शास्त्री बड़ामलहरा के अतिरिक्त पण्डित संजीवजी गोधा, जयपुर एवं पण्डित सुदीपजी शास्त्री, बरगी का सहयोग प्राप्त हुआ। पण्डित श्रुतेशजी सातपुते, डोणगाँव एवं श्री कैलाशजी शर्मा, तितरिया (जयपुर) ने भी कम्पोजिंग, संशोधन व टाईपसेटिंग के कार्य में मेरा सहयोग दिया, अतः मैं इनका भी आभारी हूँ।

इस कृति के अनुवाद में मैंने पूर्ण सावधानी व सर्तकता रखी है, तथापि 'को न विमुह्यति शास्त्रसमुद्रे' की उक्तिनुसार यदि कहीं कोई खलना हुई तो पाठकगण मेरा ध्यान अवश्य आकर्षित करेंगे।

— जितेन्द्रकुमार राठी
प्रबन्ध सम्पादक, वीतराग-विज्ञान (हिन्दी) व जैनपथप्रदर्शक (पाक्षिक)

अनुक्रमणिका

प्रकरण का नाम	पृष्ठ क्रमांक
● प्रकाशकीय	३
● प्रस्तावना	५
● सम्पादकीय	७
● समयसार कलश ११०	११
● समयसार कलश ११० पर आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के प्रवचन	१२
● पाण्डे राजमलजी कृत कलशकाव्य की बालबोधिनी टीका	२०
● पाण्डे राजमलजी कृत बालबोधिनी टीका पर आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के प्रवचन	२३
● पण्डित दीपचन्दजी कासलीवाल कृत मिश्रधर्म अधिकार	६२
● पण्डित दीपचन्दजी कासलीवाल कृत मिश्रधर्म अधिकार पर आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के प्रवचन	६५
● आगम सन्दर्भ में ज्ञानधारा-कर्मधारा को पोषक आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के हृदयोद्गार	८४

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करने वाले दातारों की सूची

१. श्रीमती कुसुम जैन ध.प. श्री विमलकुमारजी जैन, 'नीरू केमि.' दिल्ली	५०१/-
२. श्री विमलचन्दजी जे. लालचन्दजी काला, इन्दौर	५०१/-
३. श्री रसिकलाल मगनलालजी जैन, ठाणा	३००/-
४. श्री अरविन्दकुमारजी मड़वरिया, ठाणा	३००/-
५. श्री शान्तिनाथजी सोनाज, अकलूज	२५१/-
६. श्रीमती रश्मिदेवी वीरेशजी कासलीवाल, सूरत	२५१/-
७. स्व. श्री बाबूलालजी तोतारामजी जैन, भुसावल	२५१/-
८. ब्र. कुसुमताई पाटील, कुम्भोज	२५१/-
९. श्री धर्मेन्द्रकुमारजी नवीनकुमारजी जैन, दिल्ली	२५०/-
१०. श्रीमती शकुन्तलाजी जैन, गुना	२५०/-
११. सौ. कीर्ति दीपक दांगडे, भिगवन	२५०/-
१२. श्री धनपालजी शुभरावजी एलौरे, भिगवन	२५०/-
१३. श्रीमती श्रीकान्ताबाई ध.प. श्री पूनमचन्दजी छाबड़ा, इन्दौर	२०१/-
१४. श्रीमती नीलू ध.प. श्री राजेशकुमार मनोहरलालजी काला, इन्दौर	२०१/-
१५. श्रीमती इन्द्रा जैन, इटावा	२०१/-
१६. श्रीमती सुन्दरी जैन, छपेटी-इटावा	२०१/-
१७. श्रीमती मायादेवी जैन, इटावा	२०१/-
१८. श्री मुन्शीलालजी जैन, इटावा	२०१/-
१९. श्री चन्द्रप्रकाशजी जैन, इटावा	२०१/-
२०. श्री वीरेन्द्रकुमारजी जैन, इटावा	२०१/-
२१. श्री पुष्पकुमारजी जैन, इटावा	२०१/-
२२. श्री सुशीलकुमारजी जैन, इटावा	२०१/-
२३. श्रीमती समताजी जैन, गुना	२०१/-
२४. श्रीमती वीणा ध.प. श्री सतीशजी पाटोदी, इन्दौर	२०१/-
२५. श्रीमती शारदाबेन रमणलालजी फतेहपुर, ठाणा	२०१/-
२६. स्व. धापू देवी ध.प. स्व. ताराचन्दजी गंगवाल जयपुर की पुण्य स्मृति में	१५१/-
२७. श्रीमती पानादेवी मोहनलालजी सेठी, गोहाटी	१५१/-

कुल राशि

६,५२१/-



ज्ञानधारा-कर्मधारा

(श्रीमदमृतचंद्रसूरिकृत आत्मख्याति कलश क्रमांक ११० से)

(शार्दूलविक्रीडित)

यावत्पाकमुपैति कर्मविरतिर्ज्ञानस्य सम्यङ् न सा
कर्मज्ञानसमुच्चयोऽपि विहितस्तावन्न काचित्क्षतिः।
किन्त्वत्रापि समुल्लसत्यवशतो यत्कर्म बंधाय तन्-
मोक्षाय स्थितमेकमेव परमं ज्ञानं विमुक्तं स्वतः॥११०॥

(हरिगीत)

यह कर्मविरति जबतलक ना पूर्णता को प्राप्त हो।

हाँ, तबतलक यह कर्मधारा ज्ञानधारा साथ हो॥

अवरोध इसमें है नहीं पर कर्मधारा बंधमय।

मुक्तिमार्ग एक ही है, ज्ञानधारा मुक्तिमय॥११०॥

अर्थ :- (यावत्) जबतक (ज्ञानस्य कर्मविरतिः) ज्ञान की कर्मविरति (सा सम्यक् पाकं न उपैति) भलीभाँति परिपूर्णता को प्राप्त नहीं होती, (तावत्) तबतक (कर्मज्ञानसमुच्चयः अपि विहितः न काचित् क्षतिः) कर्म और ज्ञान का एकत्रितपना शास्त्र में कहा है; उसके एकत्रित रहने में कोई भी क्षति या विरोध नहीं है। (किन्तु) किन्तु (अत्र अपि) यहाँ इतना विशेष जानना चाहिए कि आत्मा में (अवशतः यत् कर्म समुल्लसति) अवशपने जो कर्म प्रगट होता है (तत् बन्धाय) वह तो बन्ध का कारण

है और (एकम् एव परमं ज्ञानं स्थितम्) जो एक परम ज्ञान है, वह एक ही (मोक्षाय) मोक्ष का कारण है (स्वतः विमुक्तं) जो कि स्वतः विमुक्त है। (अर्थात् तीनों काल परद्रव्य-भावों से भिन्न है।)

भावार्थ :- जबतक यथाख्यातचारित्र नहीं होता, तबतक सम्यग्दृष्टि को दो धाराएँ रहती हैं - शुभाशुभ कर्मधारा और ज्ञानधारा। उन दोनों के एक साथ रहने में कोई भी विरोध नहीं है। (जैसे मिथ्याज्ञान और सम्यग्ज्ञान के परस्पर विरोध है, वैसे कर्मसामान्य और ज्ञान के विरोध नहीं है।) ऐसी स्थिति में कर्म अपना कार्य करता है और ज्ञान अपना कार्य करता है।

जितने अंश में शुभाशुभ कर्मधारा है, उतने अंश में कर्मबन्ध होता है और जितने अंश में ज्ञानधारा है, उतने अंश में कर्म का नाश होता है।

विषय-कषाय या व्रत-नियम के विकल्प अथवा शुद्ध स्वरूप का विचार तक भी कर्मबन्ध का कारण है और शुद्ध परिणतिरूप एक ज्ञानधारा ही मोक्ष का कारण है।

इस विषय पर आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी का विशेष विवेचन इसप्रकार है -

“यद्यपि धर्मी अर्थात् सम्यग्दृष्टि-ज्ञानी पुरुषों को किंचित् भी राग की रुचि नहीं है, तथापि उनको शुभाशुभ राग होता है। वहाँ जितने अंश में पुण्य-पाप भाव है, वह बन्ध का कारण है और जितने अंश में शुद्धपरिणति है, वह संवर-निर्जरा का कारण है।

प्रश्न :- ‘ज्ञानी के भोग निर्जरा के कारण हैं’ - ऐसा कहा है न ?

उत्तर :- हाँ ! कहा है; किन्तु इस कथन की अपेक्षा भिन्न है। कथनों की विभिन्न अपेक्षाओं को समझना भी अत्यन्त आवश्यक है।

ज्ञानी जीव को आत्मानुभव के समय स्वरूप-श्रद्धान की मुख्यता है, वहाँ भोगों में रहते हुए भी भोगादि सम्बन्धी उसके अन्तर में तीव्र

अरुचि विद्यमान है, इसकारण ज्ञानी जीव के कर्म-निर्जरा होती है।

यहाँ भोगादि सम्बन्धी जो अरुचि है, उसे ही कर्म-निर्जरा का हेतु कहा गया है। मुख्य प्रयोजन तो यह है कि ज्ञानी को अन्तर में भोग की महिमा नहीं है, अपितु स्वरूपदृष्टि की ही महिमा है।

यहाँ शुभाशुभभावों की मुख्यता से कहा गया है कि धर्मी को जो शुभाशुभभाव होते हैं, वे सब बन्ध के कारण हैं और एक मात्र परमज्ञान ही मोक्ष का कारण है।

देखो ! धर्मी को जितने अंश में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप अतीन्द्रिय आनन्द का परिणामन है, उतना अंश मोक्ष का कारण है तथा जितने अंश में शुभाशुभ भाव हैं, वे बंध के कारण हैं।

धर्मी को अवशपने अर्थात् वर्तमान पुरुषार्थ की कमजोरी के कारण पुण्य-पापरूप भाव होते हैं, किन्तु उसे पुण्य-पाप की होंस नहीं है, उत्साह नहीं है, इसप्रकार स्वभाव की अस्थिरतावश जो पुण्य-पाप के भाव होते हैं, वे बंध के कारण हैं और पुण्य-पाप भाव से रहित एक परमज्ञान ही मोक्ष का कारण है।

पाण्डे राजमलजी कृत कलश टीका में ‘एकम् एव’ का अर्थ निष्कर्म किया है। निष्कर्म अर्थात् कर्म से निरपेक्ष, पुण्य परिणामों की अपेक्षा बिना शुद्ध चैतन्य स्वभाव की दृष्टि, ज्ञान व रमणता प्रकट होती है, वह एक ही मोक्ष का कारण है तथा शेष समस्त शुभाशुभ भाव बंध के कारण हैं।

केवली भगवान की सम्पूर्ण अबन्ध अवस्था हैं। मिथ्यादृष्टि को पूर्ण बन्ध अवस्था है और मोक्षमार्गी समकित्ती साधक जीव को कुछ बन्ध व कुछ अबन्ध अवस्था है।

इसप्रकार सम्यग्दृष्टि धर्मी को कुछ अंश में कर्मबन्ध का अभाव है और कुछ अंश में कर्मबन्ध का सद्भाव है। ये दोनों ही स्थितियाँ उसे एकसाथ विद्यमान हैं।

द्रव्यस्वभाव के स्पर्श से साधक को सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप स्वभाव प्रकट होता है, वहाँ ज्ञान स्वतः विमुक्त है, इसकारण अकेला ज्ञान ही मोक्ष का कारण है।

वीतरागी देव को राग से पूर्ण निवृत्ति है और मिथ्यादृष्टि को भगवान् आत्मा से पूर्ण निवृत्ति है; किन्तु जिस साधक जीव को अपने भगवान् आत्मा की रुचि जागृत हुई है, उसे निश्चित ही रागभाव से ममत्व छूट गया है। यद्यपि अभी उसके पूर्ण आत्मस्थिरता नहीं है, राग से पूर्ण निवृत्ति नहीं है तथापि जितने अंश में राग से निवृत्ति है, वह मोक्ष का कारण है और जितने अंश में राग में प्रवृत्ति है, वह बन्ध का कारण है।

राजा श्रेणिक पहले बौद्धधर्मी होने से मिथ्यादृष्टि थे, आत्मा से पूर्णतः निवृत्त थे। आत्मज्ञान होने पर वे क्षायिक सम्यग्दृष्टि हुए। उससमय उन्हें राग में किंचित् प्रवृत्ति थी तो किंचित् निवृत्ति भी थी। अनेक रानियों के साथ रहने एवं राज्यशासन करने पर भी क्षायिक सम्यक्त्व की भूमिकानुसार आत्मा की यथार्थ श्रद्धा-ज्ञान और आत्मप्रवृत्ति रूप आंशिक आचरण उनके अवश्य था।

इसप्रकार साधक जीव के जीवन में दोनों प्रकार की स्थितियाँ होती हैं और केवलज्ञानी परमात्मा के राग से पूर्ण निवृत्ति होती है।

सम्यग्दृष्टि को आत्मदर्शन-आत्मज्ञानपूर्वक आंशिक चारित्र भी हुआ है; किन्तु जबतक पूर्ण यथाख्यातचारित्र न हो, तबतक उनके जीवन में एक शुभाशुभ कर्मधारा अर्थात् रागधारा और दूसरी ज्ञानधारा - ये दोनों धारार्ये अवश्य रहती हैं। यहाँ रागधारा में केवल शुभराग ही नहीं होता, अपितु शुभराग के साथ अशुभराग भी होता है। इसतरह ज्ञानी जीव के एक शुभाशुभ कर्मधारा और दूसरी राग से भिन्न आत्मज्ञान की धारा सतत बहती रहती है।

शुद्ध चैतन्यस्वभाव के अवलम्बन से प्रकट हुई सम्यग्दर्शनरूप

ज्ञानधारा व पर के अवलम्बन से प्रकट हुई शुभाशुभस्वरूप रागधारा - इन दोनों धाराओं के एकसाथ रहने में भी कोई विरोध या आपत्ति नहीं है। सम्यग्ज्ञान व मिथ्याज्ञान इन दोनों में जैसा विरोध है, वैसा विरोध यहाँ नहीं है। ये दोनों ही धाराएँ एकसाथ रहती हैं।

चतुर्थ गुणस्थान में समकित्ता को युद्धस्थल में युद्ध करते समय अथवा पाँचवें गुणस्थान में रौद्रध्यानरूप अशुभराग की धारा है तथापि वहाँ सम्यग्दर्शन-ज्ञान व आंशिक स्थिरतारूप जो चारित्र विद्यमान है, वह ज्ञानधारा है। सर्वत्र ही रागधारा अशान्ति व दुःख की धारा है तथा ज्ञानधारा शान्ति व आनन्द की धारा है। तथापि दोनों ही धारार्ये एकसाथ रहते हुये निर्बाधरूप से अपना-अपना कार्य करती हैं।

अहाहा ! पुण्य-पाप का भाव कर्मबन्ध का कार्य करता है और स्वभाव के अवलम्बन से प्रकट हुआ वीतराग भाव दर्शन-ज्ञान में शुद्धता एवं शुद्धता में वृद्धि का कार्य करता है। साधक को एक समय में दोनों धारार्ये विद्यमान है, किन्तु दोनों ही धाराओं के कार्य भिन्न-भिन्न हैं।

वीतरागी को कर्मधारा नहीं होती, केवल ज्ञानधारा ही होती है और मिथ्यादृष्टि के ज्ञानधारा नहीं होती, केवल कर्मधारा होती है।

जिसकी पर्याय में चैतन्यमूर्ति भगवान् आत्मा का चैतन्यप्रकाश प्रकट नहीं हुआ, उस मिथ्यादृष्टि जीव के कर्मधारा अर्थात् रागधारा ही वर्तती है, अतः उसको मात्र बन्ध है तथा ज्ञानी जीव को भी दया-दान-व्रत-भक्ति-पूजा-अर्चना इत्यादि भाव होते हैं, वे भी बन्ध का ही कारण हैं, मोक्ष का नहीं। जो बन्ध के कारण हैं, वे सब हेय हैं। वे मोक्ष का कारण कदापि नहीं हो सकते।

प्रश्न :- पंचास्तिकायसंग्रह में तो इन्हें धर्म का साधन कहा है ?

उत्तर :- पंचास्तिकायसंग्रह में विवेचन की अपेक्षा भिन्न है। वहाँ धर्मी जीव को निश्चयधर्म के साथ सहवर्तीपने रूप कैसा शुभभाव होता

है, इस बात का ज्ञान कराने के लिए उपचार से शुभभाव को धर्म का साधन कहा है; किन्तु वस्तुतः शुभभाव धर्म के साधन नहीं हैं।

निश्चय से जिन्हें स्वरूपदृष्टि-अनुभव हुआ है, उस जीव को व्यवहार देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा का राग होता है। उस राग को व्यवहार सम्यक्त्व भी कहा गया है, परन्तु वस्तुतः वह यथार्थ सम्यक्त्व नहीं है। वह तो राग है, बन्ध का ही कारण है।

हे भाई ! स्वावलम्बी भाव संवर-निर्जरा का कारण होने से मोक्षमार्ग है एवं परावलम्बी भाव बन्ध का कारण होने से बन्धमार्ग है।

वह परावलम्बी भाव भगवान की भक्ति-व्रत-तपस्वरूप हो या विषय-कषायरूप हो। व्रत-तप-भक्ति रूप भावों को मोक्षमार्ग कहना तो केवल उपचार है, वस्तुतः वह मोक्ष का कारण नहीं है। निश्चय-व्यवहार का सर्वत्र यही लक्षण समझना चाहिए।

श्रीमद् राजचन्द्रजी ने आत्मसिद्धि में कहा है - एक होय त्रण काल मां, परमारथ नो पन्थ। परमार्थ का पन्थ तीनों काल में एक ही होता है।

अपने शुद्ध चैतन्यस्वभावमय वस्तु के अवलम्बन से जो निर्मल पर्याय प्रकट होती है, वह एक ही मोक्ष का मार्ग है। मोक्षमार्ग दो नहीं; अपितु उसका निरूपण दो प्रकार से किया जाता है। उनमें यथार्थ का नाम निश्चय है और उपचार का नाम व्यवहार है।

इससे विपरित दो प्रकार का मोक्षमार्ग मानना, यह भारी भूल-मिथ्यात्व है। चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि ज्ञानियों एवं पाँचवें गुणस्थानवाले तीर्थकरों को भी अशुभभाव होता है।

उत्तरपुराण में कहा गया है कि - “यद्यपि तीर्थकर, चक्रवर्ती, कामदेव आठ वर्ष की आयु में पंचम गुणस्थान धारण कर लेते हैं। वहाँ चक्रवर्ती ९६ हजार रानियों के बीच में रहते हुए सभी प्रकार के भोगोपभोग भोगते हैं, उससमय उनके जो रागधारा वर्तती है, वह बन्ध का काम

करती है और जितने अंश में ज्ञायकभाव जाग्रत हुआ, उतने अंश में रागभाव का ज्ञाता-दृष्टा होने से संवर-निर्जरा होती है।”

उक्त बात का विवेचन करते हुए पाण्डे राजमलजी कलश टीका में कहते हैं कि - “यहाँ कोई अज्ञानी जीव ऐसी प्रतीतिपूर्वक भ्रान्ति करे कि मिथ्यादृष्टि का क्रियारूप यतिपना बन्ध का कारण है और सम्यग्दृष्टि का शुभक्रियारूप यतिपना मोक्ष का कारण है; क्योंकि अनुभवज्ञान तथा दया-दान-व्रत-तप-संयमरूप क्रियाएँ दोनों मिलकर ज्ञानावरणादि कर्म का क्षय करते हैं।

उसका समाधान यह है कि - जितनी शुभ-अशुभ क्रिया, बहिर्जल्प-अन्तर्जल्परूप विकल्प, द्रव्यों का विचार अथवा शुद्धस्वरूप का विचार हैं, वे समस्त भाव कर्मबन्धन का ही कारण हैं; क्योंकि सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्टिरूप भेद नहीं होने से क्रिया का स्वभाव एकसमान ही है; अतः जैसी क्रिया है वैसा ही बन्ध होता है।

यद्यपि एक ही काल में सम्यग्दृष्टि जीव के शुद्ध ज्ञान और क्रियारूप परिणाम दोनों ही हैं, तथापि क्रियारूप परिणाम से केवल बन्ध है, कर्मक्षय नहीं होता तथा उसीसमय शुद्धस्वरूप अनुभवज्ञान से कर्मक्षय होता है, बन्ध नहीं होता; क्योंकि शुद्धता रूप परिणाम ही मोक्ष है।

प्रश्न :- एक जीव के एक ही काल में ज्ञान व क्रिया दोनों किसप्रकार से होते हैं, स्पष्ट कीजिये ?

समाधान :- इसमें विरुद्ध कुछ भी नहीं है। कितने ही काल तक दोनों एकसाथ होते हैं - ऐसा ही वस्तु का स्वरूप है। वहाँ वे दोनों एकदूसरे के विरोधी जैसे लगते हैं; किन्तु सब अपने-अपने स्वरूप से हैं, कोई किसी का विरोध नहीं करते।”

इसप्रकार ज्ञानस्वरूपी आत्मा में एकाग्र होकर प्रवर्तमान ज्ञानधारा संवर-निर्जरा का कारण है और बहिर्मुखपने से प्रवर्तती शुभाशुभ रागधारा

बन्ध का कारण है, उसमें एक अंश भी संवर-निर्जरा का कारण नहीं है।

भावलिंगी मुनि को भी महाव्रतादिरूप जो शुभभाव हैं, वे बन्ध का कारण हैं तथा शुद्ध परिणतिरूप ज्ञानधारा मोक्ष का कारण है।

कथंचित् ज्ञानधारा व कथंचित् रागधारा दोनों मोक्ष का कारण हो - ऐसा वस्तु का स्वरूप नहीं है।

जगत के जीवों को शुभभाव में धर्मबुद्धि का संस्कार पड़ गया है, शुभभावों के प्रति विशेष लगाव हो गया है, जिससे शुभभावों से धर्मबुद्धि का संस्कार छूटता नहीं है और इसकारण शुभभाव से लाभ होता है - ऐसा कोई कहे तो जगत के जीव प्रसन्न हो जाते हैं।

अपनी प्रवृत्ति के अनुसार उपदेश प्राप्त हो तो इस जीव को अच्छा लगता है; किन्तु हे भाई! यह मान्यता ही मिथ्यात्व नामक शल्य है।

समयसार नाटक में पण्डित बनारसीदासजी कहते हैं कि - “मुनिराज को पंचमहाव्रतादि के पालनरूप जो परिणाम होते हैं, वे प्रमाद परिणाम हैं, ये परिणाम जग-पंथ, संसार-पंथ है, बन्ध का मार्ग है। इस भाव से भव मिलता है और आत्मा की आत्मरूप प्रतीति से मोक्ष मिलता है।”

हे भाई! अपूर्व अवसर प्राप्त हुआ है। इसमें समस्त प्रकार के विवादों का त्यागकर यह निश्चय करना है कि भवसमुद्र तिरने का उपाय स्वाश्रय से ही प्राप्त होगा और पराश्रय से मात्र बन्ध ही होगा।

समयसार-बन्धाधिकार के १७३ वें कलश में आचार्य अमृतचन्द्रदेव लिखते हैं कि - “सर्व वस्तुओं में जो अध्यवसान होते हैं, वे सब त्यागने योग्य है - ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है, इसलिये हम ऐसा मानते हैं कि - ‘पर जिसका आश्रय है’ - ऐसा सम्पूर्ण व्यवहार छोड़नेयोग्य है। फिर ये सत्पुरुष एक सम्यक् निश्चय को ही निश्चलतया अंगीकार करके शुद्धज्ञानघनस्वरूप निज महिमा अर्थात् आत्मस्वरूप में स्थिरता क्यों धारण नहीं करते ?”

आचार्यदेव ने यहाँ आश्चर्यपूर्वक सम्पूर्णप्रकार का पराश्रय छोड़कर अन्तःस्थिरता प्राप्त करने की प्रेरणा दी है।

समयसार के बन्धाधिकार गाथा २७२ में भी कहा है कि -
‘मुनिराज जो निश्चयनयाश्रित, मोक्ष की प्राप्ति करे।’

अहाहा ! इतना स्पष्ट कथन होते हुए भी जिसके अन्तर में शुभराग की महिमा बसी है, उसे पूर्णानन्द के नाथ सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान, पूर्ण वीतरागता, प्रभुता एवं ईश्वरता के स्वभाव से भरे हुए अपने आत्मा की महिमा कैसे आये ? उसे तो राग-रुचि की आड़ में सम्पूर्ण शक्ति सम्पन्न निजात्मा अपनी नजरों से दूर ही हो गया है।

जिसतरह एक म्यान में दो तलवारें नहीं रह सकतीं, उसीतरह राग की महिमा व शुद्ध चिद्रूप की महिमा दोनों एक साथ नहीं हो सकतीं। अतः हे भाई ! यदि तुम्हें मोक्ष की इच्छा है तो राग की रुचि छोड़ो और शुद्ध चैतन्यमय निज परमात्मा की महिमा कर उसी में अन्तर्लीन होवो।

इसप्रकार धर्मी जीव को हुए महाव्रतादि के परिणाम भी बन्ध के कारण हैं और शुद्धत्वपरिणामन रूप ज्ञानधारा ही मोक्ष का कारण है।

प्रश्न :- जितना अशुभभाव से बचें, उतना तो संवर है न ?

उत्तर :- नहीं, ऐसा नहीं है। अशुभभाव से बचकर जो शुभभाव उत्पन्न हुआ है, वह शुभभाव स्वयं ही बन्ध का कारण है। केवल एक ज्ञानपरिणति ही संवर-निर्जरा का कारण है।

इसप्रकार साधक जीव के जीवन में एक ही समय में ज्ञानधारा और कर्मधारा प्रवर्तित होती है, तथापि उस जीव को ज्ञानधारा का आदर है, कर्मधारा का नहीं; क्योंकि एक ज्ञानधारा ही संवर-निर्जरा का कारण है और कर्मधारा आस्रव का कारण है, अतः ज्ञानधारा का आश्रय लेकर शुद्धत्वरूप परिणामन के माध्यम से मोक्षप्राप्ति के लिए अग्रसर होना चाहिए।

बालबोधिनी टीका

(पाण्डे राजमलजी कृत समयसार कलश ११० की)

“यहाँ कोई अज्ञानी जीव भ्रान्ति करता है कि मिथ्यादृष्टि के जो क्रियारूप यतिपना है, सो बंध का कारण है और सम्यग्दृष्टि के जो शुभक्रियारूप यतिपना है, वह मोक्ष का कारण है; क्योंकि अनुभवज्ञान तथा दया, दान, व्रत, तप, संयमरूप क्रिया ये दोनों मिलकर ज्ञानावरणादि कर्म का क्षय करते हैं।

इसका समाधान यह है कि जितनी शुभ-अशुभ क्रिया, बहिर्जल्प-अन्तर्जल्परूप विकल्प, द्रव्यों का विचार अथवा शुद्धस्वरूप का विचार इत्यादि समस्त कर्मबन्धन का कारण है।

सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्टि ऐसा भेद नहीं है, किन्तु जैसी क्रिया है, वैसा बन्ध है और शुद्धस्वरूप के परिणामन से मोक्ष है। यद्यपि एक ही काल में सम्यग्दृष्टि जीव के शुद्ध ज्ञान भी है और क्रियारूप परिणाम भी है।

वहाँ क्रियारूप जो परिणाम, उससे अकेला बन्ध होता है, एक अंश भी कर्मक्षय नहीं होता है और उसीसमय जो शुद्धस्वरूप अनुभवज्ञान है, उससे कर्मक्षय होता है, एक अंश भी बन्ध नहीं होता - ऐसा ही वस्तु का स्वरूप है।

अतः जिसप्रकार है, उसप्रकार कहते हैं - ‘तावत्कर्मज्ञानसमुच्चयः अपि विहितः’ तबतक क्रियारूप परिणाम, आत्मद्रव्य का शुद्धस्वरूप परिणामन उनका एक जीव में एक ही काल में अस्तित्वपना है, तथापि विशेष यह है कि - ‘काचित् क्षतिः न’ कुछ भी हानी नहीं है।

भावार्थ यह है कि एक ही जीव में एक ही काल में ज्ञान और क्रिया - ये दोनों एकसाथ कैसे हो सकते हैं ?

इसका समाधान यह है कि उनमें (ज्ञान और क्रिया दोनों एकसाथ होनेपर भी) विरुद्ध कुछ नहीं है। कितने ही काल तक दोनों होते हैं, विरोधी समान दिखते हैं; परन्तु अपने-अपने स्वरूप में रहते हैं, उनमें विरोध नहीं है - ऐसा ही वस्तु का परिणाम है।

उतने काल तक जिसप्रकार है, उसप्रकार कहते हैं - ‘यावत् ज्ञानस्य सा कर्मविरतिः सम्यक् पाकं न उपैति’ जितने कालतक आत्मा का मिथ्यात्वरूप विभावपरिणाम मिटा है, आत्मद्रव्य शुद्ध हुआ है, उसकी पूर्वोक्त क्रिया, उसका त्याग बराबर परिपक्वता को नहीं पाता है अर्थात् क्रिया का मूल से विनाश नहीं हुआ है।

भावार्थ यह है कि जबतक अशुद्ध परिणामन है तबतक जीव को विभाव परिणामन है। वह विभाव परिणामन अन्तरंग और बहिरंग निमित्त के कारण है। जीव की विभावरूप परिणामनशक्ति यह अन्तरंग निमित्त है और मोहनीय कर्मरूप स्वयं परिणामित पुद्गलपिण्ड का उदय बहिरंग निमित्त है।

मोहनीय कर्म भी दो प्रकार का है - १. मिथ्यात्व (दर्शनमोहनीय) और २. चारित्रमोहनीय।

जीव का विभाव परिणाम भी दो प्रकार का है -

१. सम्यक्त्वगुण स्वतः विभावरूप होकर मिथ्यात्वरूप परिणाम और उससमय मिथ्यात्वरूप पुद्गलपिण्ड का उदय बहिरंग निमित्त है।

२. जीव का चारित्रगुण, वह विभावरूप परिणामता हुआ विषय-कषाय लक्षण चारित्रमोहरूप परिणाम है, जिसके प्रति चारित्रमोहरूप परिणाम पुद्गलपिण्ड का उदय बहिरंग निमित्त है।

इसमें उपशम, क्षपण का क्रम इसप्रकार है - प्रथमतः मिथ्यात्व कर्म का उपशम या क्षपण होता है, तत्पश्चात् चारित्रमोह का उपशम या क्षपण होता है।

उक्त बात का स्पष्टिकरण यह है कि - किसी आसन्न भव्य जीव

के काललब्धि प्राप्त होने से मिथ्यात्वरूप पुद्गलपिण्ड कर्म उपशम अथवा क्षपण को प्राप्त होता है और जीव सम्यक्त्वगुणरूप परिणमता है, यह परिणमन शुद्धतारूप है।

यही जीव जबतक क्षपकश्रेणी पर चढ़ेगा, तबतक चारित्रमोहकर्म का उदय है। इसके रहते हुए जीव विषय-कषायरूप परिणमता है। यह परिणमन रागरूप अर्थात् अशुद्धरूप है। इसकारण किसी काल में जीव को शुद्ध-अशुद्धपना एक ही समय में घटते हैं; किन्तु इसमें विरोध कुछ नहीं है।

‘किन्तु’ जो विशेष है, वह इसप्रकार है। ‘अत्र अपि’ यद्यपि एक ही जीव के एक ही काल में शुद्ध-अशुद्धपना होता है, तथापि वे अपना-अपना कार्य करते हैं।

‘यत् कर्म अवशतः बन्धाय समुल्लसति’ जितनी द्रव्य-भावरूप, अन्तर्जल्प-बहिर्जल्परूप, सूक्ष्म-स्थूलरूप क्रिया अर्थात् सम्यग्दृष्टि पुरुष सर्वथा क्रिया से विरक्त है, तथापि चारित्रमोह कर्म के उदय में बलात्कार (न चाहते हुए भी जीव की पुरुषार्थ हिनता के कारण) जो क्रियाएँ होती हैं, वे ज्ञानावरणादि कर्मबन्ध को ही करती हैं, संवर-निर्जरा अंशमात्र भी नहीं करती।

‘तत् एकं ज्ञानं मोक्षाय स्थितं’ अतः पूर्वाक्त एक शुद्ध चैतन्यप्रकाश ही ज्ञानावरणादि कर्मक्षय का निमित्त है, परन्तु वहाँ भी जितना अंश शुद्धपना है, उतना कर्मक्षपण है और जितना अंश अशुद्धपना है, उतना कर्मबन्ध है। इसप्रकार एक ही काल में दोनों कार्य होते हैं।

‘एव’ यह ऐसा ही है, उसमें सन्देह नहीं करना है तथा वह (जिस शुद्ध चैतन्यप्रकाश के कारण कर्मक्षपण हुआ है) शुद्धज्ञान ‘परमं’ अर्थात् सर्वोत्कृष्ट पूज्य और ‘स्वतः विमुक्तं’ तीनों काल में समस्त परद्रव्यों से भिन्न है।” ●

आ. सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी के प्रवचन

(पाण्डे राजमलजी कृत समयसार कलश ११० की टीका पर)

यहाँ अज्ञानी जीव ऐसा मानता है कि मिथ्यादृष्टि के जो मुनिपना अथवा पाँच महाव्रतादि के पालनरूप क्रिया हैं, वे सब (अशुभक्रिया होने से) बंध का कारण है और सम्यग्दृष्टि के अणुव्रतादि के पालनरूप अथवा मुनि के पंच महाव्रतादि शुभक्रिया होने से मोक्ष का कारण है।

वास्तव में मिथ्यादृष्टि के पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति, षट् आवश्यक आदि रूप जो यतिपना है, वह व्यवहार होने से बंध का कारण है और सम्यग्दृष्टि का व्यवहार अर्थात् पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति आदि क्रियाएँ मोक्ष का कारण हैं।

हे भाई ! अपनी शुद्ध चिदानन्द निजात्मा के आनन्द का वेदन, अनुभवन वह एक ही मोक्ष का कारण है तथा भक्ति, पूजा, दया-दान, व्रत-शील-संयमादि समस्त क्रियाएँ बंध का ही कारण हैं।

निज अनुभवज्ञान अर्थात् सम्यग्दर्शन और आनन्द का वेदन तथा उसके साथ होनेवाली दया-दान-व्रत-तप आदि क्रियाएँ - ये दोनों मोक्षमार्ग हैं, ज्ञानावरणादि कर्म का क्षय करती हैं - ऐसा अज्ञानी जीव मानता है; किन्तु इस मान्यता से कभी मोक्ष नहीं होगा। सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् पंच महाव्रतादि क्रियाओं को मोक्ष का कारण मानना यह अज्ञानी की झूठी मान्यता है।

जितनी भी शुभाशुभ क्रिया अर्थात् शुभभावरूप दया-दान-व्रत-तप-संयमादि की क्रिया तथा अशुभभावरूप हिंसा-झूठ-चोरी आदि की क्रिया हैं। बहिर्जल्परूप बोलना इत्यादि विकल्प, अन्तर्जल्प-रूप

अन्तरंग में उठनेवाली रागादि वृत्तियाँ, छह द्रव्यों के विचाररूप विकल्प अथवा 'मैं शुद्धस्वरूपी हूँ' - ऐसा शुद्धस्वरूप के विचाररूप उठनेवाले शब्दरूप विकल्प इत्यादि समस्त कर्मबंधन के कारण समझना चाहिये। सम्यग्दृष्टि हो अथवा मिथ्यादृष्टि हो; दोनों को ही अन्तर्जल्प-बहिर्जरूप उठनेवाले समस्त विकल्प बंध के ही कारण हैं।

यहाँ कोई कहता है कि एक ओर तो सम्यग्दृष्टि के भोग निर्जरा का हेतु कहने में आते हैं और दूसरी ओर सम्यग्दृष्टि का शुभभाव बन्ध का कारण कहा जाता है, इसका तात्पर्य क्या है ?

समयसार के निर्जरा-अधिकार में सम्यग्दृष्टि के भोगों को निर्जरा का हेतु कहा। इसका तात्पर्य यह है कि भोग का भाव तो बंध का कारण है और स्वभावदृष्टि में जो निर्मलता प्रकट हुई, वह संवर-निर्जरा का कारण है। यह कथन दृष्टि की प्रधानता से किया गया है। भोगसम्बन्धी राग आता है; किन्तु दृष्टि की प्रधानता से उसकी भी निर्जरा हो जायेगी, यह समझना चाहिए।

भोग का भाव तो सम्यग्दृष्टि को बन्ध का ही कारण हैं; किन्तु भूमिकानुसार वर्तनेवाले पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति, व्रत-तप आदि के पालनरूप भाव भी बंध के ही कारण हैं। इसप्रकार अनेक अपेक्षाओं से यहाँ उक्त बात कही गई है।

यदि भोग निर्जरा के कारण होंवे तो कोई भी जीव भोगादिक को छोड़कर मुनिपना अंगीकार करने की भावना करेगा ही नहीं। सम्यग्दृष्टि के भोग निर्जरा के हेतु हैं - यह तो दृष्टि के जोर से किया गया कथन है।

'मैं शुद्ध, चैतन्य, आनंद का नाथ भगवान आत्मा हूँ' - ऐसी अन्तर्दृष्टि के जोरपूर्वक की गई प्रतीति सम्यग्दृष्टि को वर्तती है, तथापि कमजोरीवश रागादि भाव होते हैं।

इसप्रकार सम्यग्दृष्टि को अस्थिरताजन्य बन्ध तो अवश्य है, किन्तु स्वभावदृष्टि होने से मिथ्यात्व का बन्ध नहीं है।

प्रश्न :- तो क्या सम्यग्दृष्टि को मिथ्यात्व का बन्ध नहीं होता है ?

उत्तर :- हाँ ! सम्यग्दृष्टि को मिथ्यात्व का बन्ध नहीं होता, किन्तु उसे भोग का भी बन्ध नहीं है - ऐसा जो निर्जरा अधिकार में कहा, इस बात में थोड़ी सूक्ष्मता है।

'मैं चैतन्य परमानन्द की मूर्ति हूँ' - ऐसे निर्विकल्प परिणामनपूर्वक जीव को सविकल्प दशा में आनन्द का वेदन होता है। वहाँ सम्यग्दृष्टि जीव को भोग के परिणाम तो है, किन्तु साधक को उसमें सुखबुद्धि - हितबुद्धि नहीं है; उसे तो उसमें जहरबुद्धि वर्तती है।

जिसप्रकार काला सर्प दिखाई दें तो डर लगता है, उसीप्रकार साधक जीव को अन्तर में शुभभाव का बड़ा डर लगता है। भोग का भाव तो पापबंध का ही कारण है; परन्तु सम्यग्दृष्टि को जो शुभभाव अर्थात् व्रत-तप-नियमादि सब बंध के ही कारण हैं। मात्र दृष्टि के जोर की अपेक्षा भोगों को निर्जरा का हेतु कहा गया है।

अहाहा ! सम्यग्दर्शन में आत्मानुभव और आत्मानन्द का ही स्वाद है, तथापि जितनी शुभक्रिया है अर्थात् व्रत-उपवास-तप इत्यादि है, वे समस्त कर्मबंधन के ही कारण हैं।

मिथ्यादृष्टि के व्रतादि बंध के कारण हैं और सम्यग्दृष्टि के व्रतादि बंध के कारण नहीं हैं - ऐसा यहाँ नहीं समझना, क्योंकि दोनों के ही व्रतादि परिणाम बंध के कारण हैं।

यदि भोगों को निर्जरा का हेतु जानकर कोई स्वच्छन्दी हो जाये तो वह मिथ्यादृष्टि ही है। भोगों को निर्जरा का हेतु तो दृष्टि की विवक्षा से कहा गया है। सम्यग्दृष्टि के भोग अल्परस व अल्पस्थिति का ही बंध

कराते हैं; अतः उस अल्पराग व स्थिति की गिनती न करके सम्यग्दृष्टि के भोग को निर्जरा का कारण कहा है।

अरे ! वीतरागी संतों का मार्ग तो परमात्मस्वरूप है। उसके अवलंबन से जितनी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में शुद्धता प्रकट हुई, वह मोक्ष का कारण है और जितने पंच महाव्रतादि पालन के जो विकल्प उठते हैं, फिर चाहे वे क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव के ही क्यों न उत्पन्न हों, वे सब शुभरागरूप होने से मात्र बंध के ही कारण हैं।

यद्यपि एक ही काल में सम्यग्दृष्टि जीव के शुद्धज्ञान अर्थात् अनुभवज्ञान और क्रियारूप परिणाम अर्थात् दया, दान, बारह व्रतादि, भक्ति-पूजा के परिणाम भी होते हैं, किन्तु उन दोनों का एकसाथ-एकसमय में होने में कोई बाधा नहीं है। एक भाव मोक्ष का कारण है और दूजा भाव बंध का कारण है।

आत्मवस्तु के श्रद्धान बिना ही अज्ञानी जीव पंच महाव्रतादि पालन के भाव को मोक्ष का कारण मानता है; किन्तु हे प्रभु ! इस मान्यता से आत्मा को हानि ही है, लाभ नहीं।

पंच महाव्रतादि के पालन से तेरा हित कभी नहीं होगा - ऐसा ज्ञानी जीव कहते हैं। सम्यग्दृष्टि को भी व्रत-नियम आदि से बंध होता है; अतः व्रत-तपादि करने से धर्म, मोक्षमार्ग होता है - ऐसी अज्ञानी जीव की प्ररूपणा ही मिथ्या प्ररूपणा है।

साधक को ज्ञानस्वरूप का वेदन और राग की क्रिया दोनों एकसाथ-एक समय में ही वर्तती हैं, उससमय उसके ज्ञानधारा और कर्मधारा - दोनों दो धाराएँ अन्तर में प्रवर्तित हो रही है; जिसमें ज्ञानधारा मोक्ष का कारण है और रागधारा बंध का कारण है।

सम्यग्दृष्टि आत्मानुभवी को आनन्द का स्वादिष्टपना है और साथ में दया-दान-व्रत-भक्ति-पूजा-शास्त्रवाचन-श्रवण आदि रूप जितने

भी शुभभाव हैं, वे सब बंध के कारण हैं और उनसे मात्र बंध ही होता है। अंशमात्र भी संवर-निर्जरा उससे नहीं होती है।

अहाहा ! स्वद्रव्य के आश्रय से जितनी निर्मलता अंतरंग में प्रकट हुई, उतना मोक्षमार्ग है और बाह्य में परद्रव्य के आश्रय का भाव भी उत्पन्न हो, तो वह बंध का कारण है।

प्रश्न :- तो फिर किसका अवलंबन लेना चाहिए ?

उत्तर :- निजात्मा का अवलंबन लेना है। पर का अवलंबन लेने से राग की उत्पत्ति होगी और राग बंध का कारण है। चैतन्य सहजानन्द प्रभु का जितना आश्रय-अवलंबन लिया, उतनी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में निर्मलता प्रकट होती है, यही मोक्षमार्ग है।

प्रश्न :- क्या सम्यग्दृष्टि को बंध नहीं होता ?

उत्तर :- यह बात पूर्व में अनेक अपेक्षाओं से कही जा चुकी है। दृष्टि की अपेक्षा से सम्यग्दृष्टि को बंध नहीं होता, किन्तु अल्पराग से अल्प स्थिति-बंध अवश्य होता है; तथापि यहाँ उसे गौण करके सम्यग्दृष्टि को बंध नहीं है - ऐसा कहा।

वास्तव में जिस साधक को चारित्र की कमजोरीवश परद्रव्य के अवलंबन में लक्ष्य जाने से राग उत्पन्न होता है, वह राग बंध का ही कारण है। उससे कोई बचना चाहे, तो चल जायेगा, यह संभव नहीं है।

सम्यग्दृष्टि को भी विषय-कषाय, कमाना इत्यादि अशुभभाव आते हैं, किन्तु वे बंध के ही कारण हैं। जबतक पूर्ण प्रकटरूप अबंध परिणमन न हो, तबतक बंधभाव ही है।

चौरासी लाख अवतारस्वरूप भवसमुद्र में रखड़ते हुए यह जीव परिभ्रमण कर रहा है। वहाँ एक दिन भी 'मैं शुद्ध चिदानन्द आत्मा हूँ' - ऐसा जानकर निजात्मा की शरण नहीं ली और अब अपने आत्मा की शरण ली है तो कमजोरीवश शुभक्रियारूप भाव आते हैं, वे भी भवबंध

के ही कारण हैं। पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति रूप व्यवहार, निर्दोष आहार लेना इत्यादि समस्त क्रियाएँ बंध ही कराती हैं।

ये समस्त क्रियाएँ अंशमात्र भी कर्मक्षय का कारण नहीं है अर्थात् ये ये शुभक्रियाएँ जब समकिति को ही मोक्ष का कारण नहीं है, तब मिथ्यादृष्टि को मोक्ष का कारण कैसे हो सकती हैं अर्थात् कदापि नहीं हो सकती। मिथ्यादृष्टि को तो अबतक मोक्ष का कारण ही उत्पन्न नहीं हुआ है; फिर उसके कर्मक्षय कैसे होगा ?

अहाहा ! शुभभाव में शुद्धता का अंश कहा है, तब ज्ञान से ज्ञान निर्मल होता है, अशुद्धतारूप चारित्र निर्मल नहीं होता यह बताने के लिए शुद्ध अंश कहा है; परन्तु ग्रंथिभेद किए बिना, रागरूप एकत्वबुद्धि का नाश किए बिना ये शुद्ध अंश कार्यकारी नहीं है। सम्पूर्ण दिन पाप कार्य में लगे रहें, उसे यह बात कैसे समझेगी ?

हे भाई ! तुझे निजात्मा की शरण प्राप्त हुई है। अन्तर चिदानन्द आत्मा की दृष्टि हुई है। अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन हुआ है, तब निश्चित ही यह भाव मोक्ष का कारण है।

अहाहा ! अपने शुद्धस्वरूप के आश्रय से जितनी निर्मलता प्रकट हुई, वह मोक्ष का कारण है और शेष समस्त शुभक्रियाएँ बंध का कारण है। वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है, इसमें किसी पर के सहारे या मदद की आवश्यकता नहीं है। तीर्थंकर भगवंतों ने ऐसा ही वस्तुस्वरूप प्रतिपादित किया है, उसमें कहीं कुछ नहीं किया।

जिसे निज शुद्ध चिदानन्द आत्मा का ज्ञान-भान ही नहीं है, जो पुण्य की क्रिया में ही धर्म मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है। उसके व्रतादिरूप समस्त परिणाम बंध के ही कारण हैं।

दशलक्षण, अष्टाह्निका आदि धर्माराधना के पर्व हैं। ऐसे समय में

विशिष्ट प्रकार से अपने पूर्णानन्दस्वरूप प्रभु की ओर दृष्टि करे तो शांति प्राप्त होती है। जितनी शांति (वीतरागता) की प्राप्त होगी, उतना मोक्ष का कारण है और जितना लक्ष्य बाहर की ओर जाता है, फिर वह पंच परमेष्ठी का ही लक्ष्य क्यों न करें; सब बंध का ही कारण हैं।

प्रश्न :- फिर सिद्धपने की प्राप्ति कैसे होगी ?

उत्तर :- सिद्धत्व की प्राप्ति नहीं करना है, मात्र अन्तर आत्मा में रमणता करनी है, उसमें ही ठहरना है।

प्रश्न :- आत्मा में रमणता करने से मोक्ष की प्राप्ति होगी ?

उत्तर :- हाँ ! आत्मा में ही रमना-जमना है। अपने निज आत्मघर में ही आना है। हे भाई ! आजतक तुमने इतने दुःख सहे हैं कि उनको सुननेमात्र से रोना आ जाये; किन्तु तू इन सब बातों को भूल गया है। आत्मा के आनन्द स्वभाव को भूलकर, पुण्य-पाप के भावों को धर्म मानकर मिथ्यात्व का सेवन कर रहा है। इस मिथ्यात्व के फल में तू नरक-निगोद में गया। अहाहा ! यह दुःख की धारा किसप्रकार बढ़ी, उसका एकबार विचार तो कर !

भावलिंगी संत वादिराज मुनि के शरीर में कोढ़ हुआ था। तब तत्कालीन अन्य राजा जैन श्रावकों से कहता है कि तुम्हारे साधु को कोढ़ है और श्रावक कहते हैं कि महाराज ! हमारे मुनिराज के कोढ़ नहीं है।

श्रावकगण मुनिराज के पास जाकर उनसे उक्त बात कहते हैं, इसपर मुनिराज श्रावकों से शांति रखने के लिए कहते हैं और प्रभु की भक्ति प्रारंभ करते हुए कहते हैं कि -

हे प्रभु ! जब आप माता के गर्भ में आते हो तो सम्पूर्ण नगर के गढ़ सोने व कंगूरे रत्नों के समान बन जाते हैं। स्वर्ग के इन्द्रादि समस्त देव आप की सेवा करते हैं, उसीप्रकार हे प्रभु ! मैं आप को अपने हृदय में धारण करता हूँ, स्थापित करता हूँ, फिर मुझे यह कोढ़ कैसे रहेगा ?

अर्थात् निश्चित ही मेरा यह कोढ़ मिट जायेगा। इसप्रकार भक्ति करते हुए मुनिराज को पूर्व पुण्य का उदय आया और उनका कोढ़ मिट गया।

वादिराज मुनि कहते हैं कि हे नाथ ! मैं पूर्व के दुःखों को याद करता हूँ तो मुझे अन्तर में डर लगता है। जिसप्रकार युद्ध में डर लगता है, उसीप्रकार भूतकाल के दुःखों को याद करके डर लगता है; क्योंकि आज तक नरक-निगोद में बहुत दुःख सहन किए हैं, उन्हें स्मरण करनेमात्र से ही अंसख्य वेदना होती है।

यहाँ अज्ञानी को कोई दरकार नहीं है। पूर्व में कितने ही दुःख सहन किए थे, किन्तु अब जो थोड़ी-बहुत अनुकूलता मिली है, पाँच-पच्चीस लाख रुपये मिले हैं, स्त्री आदि ठीक मिली है तो यह जीव सुख मानता है। वास्तव में इस धूल में सुख नहीं है। हे भाई ! तूने तो दुःखरूपी पर्वत से ही अपना मस्तक फोड़ लिया है, तो तुझे सुख की प्राप्ति कैसे होगी ?

वादिराज मुनि कहते हैं कि हे प्रभु ! मेरा आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द के सागर से पूर्ण भरा हुआ है, उसे भूलकर मैंने अनन्त दुःख सहन किये। मैंने आपकी भक्ति की, इसकारण शरीर का कोढ़ चला गया, ऐसा नहीं है। यह कोढ़ तो पुण्य के कारण गया है। लाख भक्ति करें तो भी यह न जाये। यह तो सहज मिलान हुआ है, फिर भी शरीर में थोड़ा-सा कोढ़ बचा है, जिससे विद्वेषियों का कहना भी झूठ नहीं हुआ।

अहाहा ! यह कोढ़रूप वर्तमान दुःख भी ज्ञानी को नहीं है। दुःख तो परवस्तु है। कोढ़ तो शरीर की अवस्था है, उसे ज्ञानी ज्ञेयरूप जानते हैं। शरीर में जो रोग हुआ, वह आत्मा में नहीं है। मैं तो शरीर अवस्था से भिन्न नीरोगी-निराकुल आनन्दकन्द प्रभु हूँ - ऐसा ज्ञानी जानता है।

जिससमय व्रत-भक्ति आदिरूप शुभपरिणाम हैं, उससमय बंध है और उसीसमय आत्मा के आश्रय से जितना ज्ञान हुआ, उतनी अबंधदशा है, इसप्रकार एक ही समय और एक ही काल में ज्ञानी जीवों के दोनों

अवस्थाएँ वर्त रही हैं। निष्कर्ष स्वरूप हम यह कह सकते हैं कि -

१) सर्वज्ञ परमात्मा को मात्र अबंध (मोक्ष) रूप परिणाम है।

२) मिथ्यादृष्टि को मात्र बंधरूप ही परिणाम है। तथा

३) साधक को एक ही समय बंध-अबंधरूप दोनों परिणाम हैं।

साधक जीव विचार करता है कि - हे प्रभु ! शुभभाव प्रकट हो, वह मेरा दोष है। उससे मेरे आनन्द में कमी आती है। शुभभाव में आते ही मैं दोष में आ जाता हूँ।

अहाहा ! ये शुभभाव तो ज्ञेयरूप हैं। समकित्ती को दृष्टि अपेक्षा इनकी निर्जरा कही है और चारित्र की अपेक्षा से बंध ही है।

१) अपने ज्ञान स्वभाव का ज्ञान हुआ, उस अपेक्षा से राग भी ज्ञान में परज्ञेय है।

२) सम्यग्दृष्टि के राग को दृष्टि अपेक्षा निर्जरा का कारण कहा है।

३) चारित्र अपेक्षा यही राग विष के समान होने से बंध का कारण है।

व्रत-पूजा-भक्ति आदि और आत्मद्रव्य का शुद्धत्व परिणामन - ये दोनों एक ही जीव में एक ही समय अस्तिरूप हैं। भगवान आत्मा का शुद्ध परिणामन पर्याय में है, उससमय रागादिरूप अशुद्धता भी है; किन्तु दोनों की एक जीव में एक ही समय अस्ति है।

जिनागम के अन्य शास्त्रों में यह भी कहा गया है कि सम्यग्दृष्टि को मात्र शुद्धपरिणाम ही है, अशुद्ध परिणाम नहीं हैं; किन्तु यह बात अनेक अपेक्षाओं से कही गई है।

यहाँ शुद्ध परिणाम को स्वज्ञेय में लिया है; क्योंकि द्रव्य और गुण शुद्ध हैं, अतः द्रव्य-गुण का अनुभव हुआ, वहाँ शुद्ध परिणामन है। अशुद्ध परिणाम आत्मा के द्रव्य-गुणरूप परिणाम नहीं हैं; अतः सम्यग्दृष्टि को अशुद्ध परिणाम नहीं हैं - ऐसा कहा जाता है।

इसीप्रकार सम्यग्दृष्टि को दुःख नहीं है, यह बात भी अनेक अपेक्षाओं

से कही जाती है। हे भाई ! अपने आनन्दस्वरूप की मुख्यता से दुःखरूप परिणाम को गौण करके अल्पबंध की स्थिति को यहाँ स्वीकार नहीं किया, अतः सम्यग्दृष्टि को दुःख नहीं है - ऐसा भी कहने में आता है तथा जहाँ चारित्र की अपेक्षा वर्णन किया है, वहाँ शुभभाव को बंध का कारण कहा है। स्तुति में भी आता है कि -

“लागी लगन हमें जिनराज..... ।

सुजस सुन प्रभु तेरा, भाग्य जगा मेरा ।

मैं आनन्द शुद्ध चैतन्य घन हूँ, अब भाग्य जगा मेरा ॥

काहू कहें, कबहूँ न छूटे, लोक लाज सब डारी ।

जैसे अमली अमल करत, हमें लाग रही हो खुमारी ॥”

जिसप्रकार अफीम पीनेवाले को नशा चढ़ता है, उसीप्रकार ज्ञानियों को अन्तर ज्ञानानन्द की मस्ती चढ़ी है - ऐसे ज्ञानानन्द में लीन उन्हें दुःख का वेदन रंचमात्र भी नहीं है।

चारित्र की मुख्यता से विचार करे तो जबतक अन्तर में चारित्र की पूर्णता नहीं है, तब तक क्षायिक सम्यग्दृष्टि को भी बंध के परिणाम हैं। तीर्थकर भी जब छद्मस्थ-मुनि अवस्था में रहते हैं, तब उन्हें भी पाँच महाव्रतादि के विकल्प अवश्य आते ही हैं, किन्तु वे सब बंध के ही कारण हैं। उससमय स्वद्रव्य के आश्रय से जितना शुद्ध परिणमन है, उतना मोक्ष का कारण है।

यह केवलज्ञान दशा के पूर्व की बात है। तीर्थकर जब छद्मस्थ-मुनि अवस्था में होते हैं, तब आहार के लिए जाते हैं, उन्हें आहार तो रहता है; किन्तु निहार नहीं होता। त्रिलोकीनाथ तीर्थकर भगवान को जन्म से ही परमौदारिक शरीर है। मुनिरूप छद्मस्थदशा में उन्हें भी आहार-विहार का विकल्प आता है; किन्तु वह विकल्प भी उनके लिये बंध का ही कारण है।

जगत के जीव पाँच महाव्रत और तप आदि को मोक्ष का कारण मानते हैं; किन्तु ऐसा नहीं है।

जीवों की दृष्टि ही मिथ्या है; अतः राग-व्रत आदि विषममान बंधन के कारण होने पर भी अज्ञान के कारण इस जीव को मोक्ष का कारण भासित होते हैं; किन्तु राग की क्रिया से मोक्ष होगा - ऐसा त्रिकाल संभव नहीं है।

प्रश्न :- यदि ऐसा है तो जो लोग दया-दान-व्रतादि करने से कल्याण होगा - ऐसी प्ररूपणा करते हैं, उनका उपदेश कैसे असत्य होगा ? वे मिथ्यादृष्टि है इस बात की जानकारी कैसे होगी ?

समाधान :- अहाहा ! व्रत-तपादिरूप समस्त शुभभाव बंध के ही कारण हैं - ऐसा जिसने निर्णय किया, उसकी दृष्टि सम्यक् हो गई है; क्योंकि सम्यग्दृष्टि के समस्त व्रतादिरूप विकल्प बंध के ही कारण हैं, मोक्ष के कारण कदापि नहीं।

कोई सेठ दान देवें तो लोग उसे दानवीर कहते हैं, किन्तु भाई ! वास्तव में अपने निर्मल आनन्द का दान जिसने अपनी पर्याय को दिया है और पर्याय ने भी उसे स्वीकार किया, वह वास्तव में दानवीर है।

यहाँ कहते हैं कि जो राग का स्वामी है, व्रत-तपादि विकल्पों का स्वामी है, वह मिथ्यादृष्टि है।

इससे विपरीत सम्यग्दृष्टि को राग और व्रतादि होते हैं; किन्तु उनका स्वामीपना उसे नहीं है। व्रत-पूजा-भक्ति इत्यादि भाव ज्ञानी को हेयबुद्धिरूप वर्तते हैं। हेयबुद्धिरूप होने पर भी वे भाव उसे बंध के ही कारण हैं। राग थोड़ा हो; किन्तु वह आत्मा को लाभदायक है - ऐसा ज्ञानी नहीं मानते। रागादि में अपनापन मानना यह भगवान की जाति का उपदेश नहीं है; किन्तु जगत के जीवों को यही बात अच्छी लगती है, अतः वे सर्वथा भगवान की जाति के बाहर है।

कलश में 'काचित् क्षति न' - कुछ भी हानि नहीं है, ऐसा कहा अर्थात् यहाँ कई अपेक्षाओं से हानि नहीं है।

एक निर्मल पर्याय है और एक रागरूप पर्याय है। इनमें राग की पर्याय निर्मल पर्याय को कोई नुकसान नहीं करती; किन्तु विशेष निर्मलता प्रकट करने में अवश्य हानि करती है।

वर्तमान निर्मल प्रकट पर्याय और मलिन पर्याय - ये दोनों एक साथ ही हैं तथापि जिसप्रकार मिथ्यादृष्टिपना और सम्यग्दृष्टिपना में विरोध है; उसप्रकार का विरोध इन दोनों क्रियाओं में नहीं है।

किसी जीव को 'राग मेरा है' - ऐसा मिथ्यादृष्टिपना और 'राग मेरा नहीं है' - ऐसा सम्यग्दृष्टिपना ये दोनों एक ही समय में एक साथ नहीं रह सकता; किन्तु रागरूप पर्याय और निर्मल पर्याय दोनों के एक साथ होने में कोई बाधा नहीं है, यही न्याय है।

प्रश्न :- विगत दोनों बातों में क्या अन्तर है ?

उत्तर :- जिस समय दृष्टि में मिथ्यात्व है, उससमय सम्यग्दर्शन हो - ऐसा तीन काल में संभव नहीं, तथापि जिससमय निर्मल परिणति है, उससमय मलिन परिणति हो, इसमें कोई विरोध नहीं है।

आचार्य अमृतचन्द्र पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में यही बात निम्न प्रकार से कहते हैं - "जितने अंश में राग है, उतने अंश में बंध है और जितने अंश में सम्यग्दर्शन है, उतने अंश में अबंधरूप परिणाम है।"

अहाहा ! जितने अंश में सम्यग्दर्शन-ज्ञान है, उतना अंश अबंध का कारण है तथा जितने अंश में राग है, उतना बंध है।

यहाँ कोई एकान्त से कहे कि सम्यग्दृष्टि को बंध है ही नहीं और व्रत-तपादि शुभभाव मोक्ष के कारण हैं, तो ये दोनों कथन विपरीत हैं।

प्रश्न : - एक ही समय में सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और राग - ये दोनों किस रीति से विद्यमान हैं ?

समाधान :- उक्त बात में विरोध जैसा कुछ भी नहीं है; क्योंकि सम्यग्दर्शन-ज्ञान का आनन्दरूप स्वाद है और राग का दुःखरूप स्वाद है। जबतक परिपूर्णता प्रकट नहीं होती, तबतक धर्मी जीव को जितना आनन्द आया, वह पवित्र है, सुख है और जितना राग आया, वह दुःख है। इसमें दोनों के एक समय रहने में कोई बाधा नहीं है।

जिसप्रकार मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि, सम्यग्ज्ञान व मिथ्याज्ञान के एक साथ रहने में विरोध है, उसप्रकार सम्यग्ज्ञान और राग के एक साथ रहने में विरोध नहीं है; क्योंकि सम्यग्ज्ञान ज्ञान गुण की पर्याय है और रागरूप क्रिया चारित्र गुण का विपरीत परिणामन है, अतः उन दोनों के एकसाथ रहने में कोई विरोध नहीं है।

साथ ही विकार परलक्ष्यी है और धर्म स्वलक्ष्यी है। दोनों का लक्ष्य करने पर दोनों ही विरोधी जैसे लगते हैं, किन्तु दोनों में कुछ विरोध नहीं है, वे अपने-अपने स्वरूप में ही विद्यमान हैं।

निज चैतन्य आत्मद्रव्य का आश्रय लेकर उसमें जितनी एकाग्रता हुई, उतनी निर्मलता है। इससमय समस्त परलक्ष्यी भाव अथवा देव-गुरु-शास्त्र के अवलंबन से हुआ परावलंबी भाव विकार होने से बंध का ही कारण है; किन्तु उनके एक साथ रहने में कोई बाधा नहीं है।

निज वस्तु अर्थात् निज भगवान आत्मा, पूर्णानन्द का नाथ उसके आश्रय से जो निर्मल परिणति प्रकट हुई है, वह स्व-स्वरूप में है और पर के आश्रय से जो पूजा, दान, भक्ति, व्रत, तप इत्यादि विकल्प आते हैं, वे अपने स्वरूप में हैं; किन्तु दोनों अपने-अपने स्वरूप को छोड़कर एक-दूसररूप हो जायेंगे - ऐसा नहीं है।

शुभभाव उत्पन्न होने से शुद्धभाव का नाश हो जायेगा - ऐसा नहीं, अपितु शुभभाव उत्पन्न होने पर भी शुद्धभाव बना रहता है, वह नाश को प्राप्त नहीं होता - यह विशेष है।

द्रव्यस्वभाव के अवलंबन से जो निर्मल परिणति प्रकट हुई, वह अपने स्वरूप में रहती है और परद्रव्य के अवलंबन, देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति, व्रत-तप-दया-दान इत्यादि भाव जो कमजोरीवश उत्पन्न होते हैं, वे अपने भावस्वरूप अर्थात् विकाररूप रहते हैं। **विकार विकार में है और अविकारी परिणाम अविकाररूप है।**

अहाहा ! जब तक शुभराग क्रिया का परिपूर्ण त्याग नहीं होता, तबतक विकारी भाव होते हैं। पुण्य परिणाम, कर्मविरति इत्यादि से परिपूर्ण निवृत्ति न हो, तबतक शुभराग आते हैं और होते भी हैं।

आत्मद्रव्य शुद्ध हुआ अर्थात् आत्मपरिणति शुद्ध हुई है। वहाँ पूर्वोक्त क्रिया रूप शुभभाव का त्याग (**सम्यक् पाकं न उपैति**) परिपक्वता को प्राप्त नहीं हुआ, अतः जबतक राग का पूर्ण त्याग नहीं है, तबतक राग आता है, यह राग बंध का कारण है, फिर भी उसके व ज्ञान के होने में कोई विरोध नहीं है।

अभी तो इस जीव के श्रद्धा का ही ठिकाना नहीं है, फिर सम्यग्दर्शन कैसे होगा ? अज्ञानी की तो प्ररूपणा ही सदैव विपरीत है। व्रत-तप-उपवास, त्याग-क्रियाकाण्ड, भक्ति-पूजा, दया करो, महाव्रतादि पालन करो इससे धर्म होगा - ऐसी उसकी दृष्टि ही मिथ्या है।

अरे भाई ! अनादिकाल से आजतक शुभभाव करते हुए मुझे लाभ होगा ऐसा विचार करके तूने अपनी आत्मा को बिगाड़ा ही है।

जिसने मिथ्यात्वभाव का ग्रहण किया है, पुण्य-पाप मेरी वस्तु है, पुण्य से मुझे लाभ होगा - ऐसा मान रखा है, उसने मिथ्यात्वरूपी सिंह पाल रखा है। यह तूझे खा जायेगा। तेरी आत्मशांति को नष्ट कर देगा, अतः चेत और आत्मा का ध्यान कर।

आत्मानन्द में मस्त जीव को व्रत-भक्ति-पूजारूप जो शुभराग की क्रियायें हैं, उन्हें कार्य अर्थात् कर्म कहा गया है।

आत्मा शुद्ध चैतन्यमूर्ति प्रभु है, उसकी दृष्टि और अनुभूति होते ही ज्ञानी का मिथ्यात्व टल जाता है। दृष्टि में आत्मद्रव्य शुद्ध है, तदनुसार उसकी प्रतीति भी हुई है। आत्मद्रव्य की शुद्ध प्रतीति होने पर पर्याय में भी शुद्धता हुई है। वही शुद्धत्वरूप शक्ति सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में व्यक्त हुई है तथा भगवान आत्मा के भण्डार में जो शुद्धता की शक्ति पड़ी है, उसी में से सम्यग्दर्शन की व्यक्तता हुई है।

आत्मद्रव्य शुद्ध होने पर भी राग की क्रिया अभी बाकी है। साधक को व्रत-तप-पूजा भक्ति आदि का विकल्प आता है; परन्तु इन क्रियाओं का उसे त्याग है। अपने आनन्द-स्वरूप दृष्टि का उसे भान है तदनुसार ज्ञाता-दृष्टारूप परिणाम भी अन्तर में विद्यमान है; परन्तु क्रियाकांडरूप राग से अभी पूर्ण निवृत्ति नहीं है।

मिथ्यात्व का तो अभाव हुआ है, परन्तु जितने प्रमाण में राग का अभाव होना चाहिए, उतने प्रमाण में राग का अभाव नहीं हुआ है। आत्मा शुद्ध चैतन्यमूर्ति त्रिकाल शुद्ध है, उस पर आरूढ़ होकर जो अनुभूति अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान हुआ, वहाँ मिथ्यात्व का नाश तो हुआ है; किन्तु शुद्धता वर्तमान पर्याय में थोड़ी प्रकट हुई है अर्थात् राग से पूर्ण निवृत्ति नहीं है।

अहाहा ! सम्यग्दृष्टि ज्ञानी को भी जबतक राग की क्रिया है, तबतक बंध है। यद्यपि मिथ्यात्वरूप बंध उसे नहीं है; किन्तु चारित्रमोहरूप बंध है। ज्ञानी का जितना लक्ष्य अभी राग और क्रियाकांड में है, उतना उसे बंध है; क्योंकि ज्ञानी को भी दया-दान-व्रत-भक्ति-पूजा, भगवान का नामस्मरण इत्यादि रागरूप कार्य होते हैं।

वास्तव में तो भगवान आत्मा ने अपने शुद्धस्वरूप के अनुभवपूर्वक मिथ्यात्व का त्याग किया है; किन्तु उसे शुद्धस्वरूप में जितनी स्थिरता होनी चाहिए, वह अभी प्रगट नहीं हुई है। रागादिरूप अशुभ परिणामों

की जब तक सम्यक्प्रकार से पूर्ण निवृत्ति नहीं होती, तब तक उस जीव के रागरूप क्रिया और परिणाम दोनों ही शेष रहते हैं।

“.....बराबर परिपक्वता को प्राप्त नहीं होता अर्थात् क्रिया का मूल से विनाश नहीं हुआ है।....”

सम्यग्दृष्टि आत्मज्ञानी को मिथ्यात्व का नाश तो हुआ है; किन्तु रागरूप क्रिया का पूर्ण अभाव नहीं होने से परिपूर्ण वीतरागता नहीं है; क्योंकि राग के भावस्वरूप क्रिया का अभी मूल से विनाश नहीं हुआ।

क्रियाकांड करते-करते सम्यक्त्व और ज्ञान होगा - ऐसा कोई माने या कहे तो उन्हें अभी सर्वज्ञ देव के मार्ग की खबर ही नहीं है। वे तो सर्वज्ञ के मार्ग से दूर ही हैं। राग से आत्मा सदैव निवृत्त है, प्रवृत्त नहीं।

समकृति को वर्तता हुआ राग शुभक्रियाकांडरूप हो या शुभोपयोगरूप वह बंधन का ही कारण है। राग को छोड़ने से स्थिरता हो जायेगी अथवा शुभराग को छोड़ देंगे तो अशुभराग में चले जायेंगे इत्यादि प्रश्न यहाँ नहीं हैं। राग छूटेगा तो स्वरूपस्थिरता अवश्य होगी ही होगी। राग का फल मात्र बंधन ही है - ऐसा उपदेश सर्वज्ञ, वीतरागी, त्रिलोकीनाथ परमात्मा की वाणी में आया है।

सौधर्म स्वर्गादि में शक्रेन्द्र के बत्तीस लाख विमान होते हैं, एक-एक विमान में असंख्य देव रहते हैं, कदाचित् किसी विमान में कुछ कम देव हो, उनका स्वामी शक्रेन्द्र एक भवावतारी होता है। सिद्धान्त में भी उसे एक भवावतारी कहा है। करोड़ों अप्सराओं और असंख्य देवों का वह स्वामी कहलाता है - ऐसे इन्द्र को भी भगवान की वाणी समझने का भाव आता है, वह इन्द्राणी सहित सीमन्धर परमात्मा के समवशरण में दिव्यध्वनी सुनने जाता है। यद्यपि इन्द्र को पता है कि यह उसका अन्तिम भव है। अगले भव में मनुष्य होकर वह मोक्ष जायेगा, तथापि उसे भी तीर्थकर भगवान की दिव्यध्वनी सुनने का भाव आता है।

उसकी मुख्य इन्द्राणी भी एक भवावतारी ही होती है; किन्तु पूर्व में मायाचार के बीज बोए होंगे तभी स्त्री पर्याय में उत्पन्न हुई है। देवीपर्याय में जन्म लेने पर भी वह मिथ्यादृष्टि ही होती है; परन्तु इन्द्र के साथ भगवान का गर्भ-जन्मकल्याणक मनाने जाती है, तब आत्म ज्ञानपूर्वक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति कर लेती है।

सिद्धान्त में इन्द्राणी को भी एक भवावतारी कहा है अर्थात् वह भी एक भव पश्चात् मोक्ष जानेवाली है। मोक्ष जानेवाले जीव आत्मज्ञानी होते हैं। अवधिज्ञानी, मति-श्रुतज्ञानी सम्यग्दृष्टि भी भगवान की वाणी समझते हैं। वहाँ भगवान की वाणी में यही आता है कि जबतक राग से पूर्ण निवृत्ति नहीं है, तबतक बंध है, अतः हे भाई! तू राग से पूर्ण निवृत्त होने का उपाय शीघ्र ही कर।

शत्रुंजय पर्वत पर पाँच पाण्डव ध्यानावस्था में लीन थे, उससमय दुर्योधन के भानजे ने उन्हें लोहे के गर्म आभूषण पहनाये। धर्मराज युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन तो अपने आत्मस्वरूप में लीन होकर केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष चले गये। शत्रुंजय पर्वत सिद्धक्षेत्र कहलाया।

सिद्धक्षेत्रों की यात्रा आदि करने का उद्देश्य ही यह है कि संतों ने जैसे मोक्ष पर्याय प्राप्त की है, वैसी मोक्षपर्याय हमें भी प्राप्त हो।

इन सिद्धक्षेत्रों पर जाने से सिद्धों के स्वरूप का स्मरण होता है - ऐसा लगता है भगवान यहाँ से मोक्ष गए हैं, ठीक ऊपर विराजे हैं; किन्तु यह विचार भी शुभभाव ही समझना।

पाँच पाण्डव मुनिराजों में तीन मुनिराज तो मोक्ष पधारे और दो मुनियों को जरा-सा विकल्प आया कि इन गर्म आभूषणों के पहनाने से हमारे तीन मुनि भाइयों का क्या हुआ होगा? बस, इतने मात्र से उनके कर्मनिवृत्ति अर्थात् राग से निवृत्ति नहीं हुई।

दो मुनियों को मात्र इतना विकल्प आया कि वे हमारे सहोदर, एक घर में जन्मे, साधर्मी और बड़े भाई हैं, उनका क्या हुआ होगा ? बस ! इस विकल्पमात्र से उनकी राग से निवृत्ति नहीं हुई ।

प्रश्न :- यह विकल्प तो अन्य के संबंध में आया, अपने संबंध में नहीं ? फिर राग से निवृत्ति क्यों नहीं हुई ?

उत्तर :- वह विकल्प स्व के प्रति नहीं आया; क्योंकि स्वयं तो आत्मानन्द में ही मग्न थे; परन्तु अन्तर में थोड़े समय के लिए स्वरूप-स्थिरता नहीं हो पायी, सो उतने विकल्प मात्र से उनका केवलज्ञान रूक गया । नकुल और सहदेव सर्वार्थसिद्धि में गए और केवलज्ञान से ३३ सागर कालपर्यन्त दूर हो गये । इतना-सा राग हुआ और मुक्ति से वंचित हो गये, राग से निवृत्ति नहीं हुई, अतः **समकित्ती अथवा मुनि हो, जबतक राग से परिपूर्ण निवृत्ति नहीं है, तबतक अन्तर बंध अवश्य है ।**

हे भाई ! यह तो वीतरागी प्रभु का मार्ग है और प्रभु शब्द परमात्मा का सूचक है । प्रभु का वीतरागतास्वरूप मार्ग ही मेरा है - ऐसा स्वीकार कर और उसे ही अंगीकार कर ।

उन दो मुनिराजों को इतना-सा साधर्मीपने का राग आया तो ३३ सागर का आयुष्य बँध गया । वह राग संसारस्वरूप नहीं था, तथापि ३३ सागर का आयुष्य बँध गया । एक सागर में १० कोड़ाकोड़ी पल्योपम और एक पल्योपम के असंख्यातवें भाग में असंख्य अरबों वर्ष होते हैं, उतने वर्षों तक केवलज्ञान दूर हो गया ।

प्रश्न :- इतने से राग की इतनी बड़ी सजा ?

उत्तर :- हाँ भाई ! यह राग का ही फल है । तीन मुनिराज तो मोक्ष गये और दो सर्वार्थसिद्धि में गये । अब आगे तैतीस सागर काल व्यतीत होने पर मनुष्य होंगे । मुनि बनकर, केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष जायेंगे ।

मनुष्यावस्था में भी उन जीवों को कम-से-कम आठ वर्ष पूर्व तो

केवलज्ञान नहीं हो सकता । देखो ! इतने से राग में प्रवृत्ति हुई और उस राग से निवृत्ति न होने से बंध हुआ । वह भी साधारण बंध नहीं, अपितु एक भव इस दुःखरूप संसार का बढ़ गया ।

प्रश्न :- इतने-से राग का यह फल ?

उत्तर :- हाँ भाई ! जरा विचार तो कर ! इतने से राग का फल कि एक भव और बढ़ गया; किन्तु तू तो अनादि से ही राग करते आ रहा है, फिर तेरे कितने भव हुये होंगे तथा और कितने भव होना बाकी होंगे ? यहाँ बाह्य अशुभराग की बात नहीं है; बल्कि छठवें गुणस्थान में झूलनेवाले उन दो मुनिराजों को अपने से बड़े अन्य मुनिराजों के प्रति साधर्मीपने का विकल्प आया और देखो ! थोड़ा-सा पर की ओर लक्ष्य गया तो दो भव बढ़ गए । एक भव स्वर्ग और एक मनुष्य का हो गया ।

यह बात वीतराग मार्ग के बिना अन्यत्र कहीं नहीं हो सकती । वीतरागी देव कहते हैं कि हे प्रभु ! आत्मज्ञान होने पर यदि तुझे मेरे (पंच परमेष्ठी के) स्मरण का राग आये तो वह बंधन का ही कारण है ।

इस राग के कारण अनेक भव धारण करने पड़ सकते हैं और भव का होना यही इस जीव को कलंक है ।

ज्ञानस्वरूपी भगवान आत्मा भव और भाव दोनों से रहित है; अतः जीने का भाव और भव - ये दोनों ज्ञानियों को कलंक लगते हैं ।

योगीन्दुदेव कहते हैं कि - भगवान आत्मा आनन्द की मूर्ति है, उसे इस दुःखरूप संसार में भव लेना पड़े यह तो कलंक है ।

ज्ञानी जीव को जबतक राग की क्रिया का परिपक्व त्याग नहीं है, तबतक उसे बंध है; फिर अशुभराग का तो कहना ही क्या ? मुनिराज को पर की दया पालने का भाव नहीं है, मात्र मुनिपने का विकल्प है; किन्तु जब ध्यान में लीन होते हैं, तब यह विकल्प भी नहीं रहता ।

भावार्थ यह है कि जबतक अशुद्धपरिणाम हैं, तबतक जीव को विभावरूप परिणाम हैं ।

समकृती के तो तदनुरूप वीतरागता है; किन्तु भावलिङ्गी मुनि को तीन कषाय चौकड़ी के अभावस्वरूप वीतरागता प्रकट हुई है। उस वीतराग स्वरूप में वे निरन्तर रमण करते हैं; तथापि उनका लक्ष्य भी पूर्ण वीतरागता की प्राप्ति करना ही है।

अहाहा ! संसार का राग तो समकृती को काला नाग दिखाई देता है। वीतरागी सर्वज्ञ परमात्मा हमें पुकार कर कहते हैं कि जबतक राग की क्रिया से पूर्ण निवृत्ति न हो, तबतक बंध है और जबतक बंध हैं, तबतक संसार में भव धारण करना ही पड़ेगा।

श्रीमद् राजचन्द्रजी कहते हैं -

अशेष कर्म का भोग है, भोगन का अवशेष रे।

वहाँ देह एक धरकर, जाना स्वरूप स्वदेश रे॥

अरे भाई ! राग अभी भी बाकी है। “अशेष कर्म का भोग” अर्थात् राग जो अभी बाकी है, उसका भोग अंदर में दिखाई देता है।

ज्ञानी के बाह्य में जो राग दिखाई देता है, वह एक भव कराता है और एक भव पश्चात् वे जीव अपने स्वरूप में चले जाते हैं। इसकारण उस जीव को राग की देशना नहीं है। कहा भी है -

हम परदेशी पंछी साधु, इस देश के नहीं रे।

निज स्वरूप का स्मरण करके, जाये स्वरूप स्वदेश

र । । ।

यहाँ यह कहना चाहते हैं कि अभी हम राग के क्षेत्र में हैं अर्थात् कर्मों से पूर्ण निवृत्त नहीं हुये हैं; परन्तु निश्चित ही इस राग का त्याग करके एक भव पश्चात् मोक्ष की प्राप्ति अवश्य करेंगे; क्योंकि हमारा स्वदेश तो अपना निज आत्मा है। जिन्होंने भव का छेद करने का निश्चय कर लिया है अथवा छेद कर दिया है, उन ज्ञानी धर्मात्माओं को जरा-से रागभाव में भी अपना भव नजर आता है।

उससमय ज्ञानी विचार करते हैं कि अरे रे ! अभी और भव करना

पड़ेगा। देह धारण करनी पड़ेगी। मनुष्य और स्वर्गादि में जाना तो धर्मशाला में जाने के समान है, जहाँ जाते हैं और फिर पुनः वहाँ से निकाल दिये जाते हैं, अतः अब शीघ्र ही भव का अभाव करना है; क्योंकि राग के कारण ही यह भव बारम्बार धारण करना पड़ता है।

वीतरागी सर्वज्ञ अरहंत परमात्मा कहते हैं कि जब तक जीव को अशुभ परिणामन है, फिर चाहे वह मुनि हो अथवा सम्यग्दृष्टि हो, उसके विकारी परिणाम विद्यमान है।

श्री अमृतचन्द्राचार्य श्लोक में कहते हैं कि अनादि से हमें अशुद्धता (कल्मषितायाः) हैं। भावलिङ्गी, तीन कषाय चौकड़ी से रहित, वीतराग झूले में झूलनेवाले संत - ऐसा कहते हैं कि अनादि की कलुषतास्वरूप राग हमें अभी भी विद्यमान है। यद्यपि वह शुभ राग है, किन्तु राग होने से बंध का ही तो कारण है।

राग का एक अंश भी बाकी रहे तो संसार परिभ्रमण करना पड़ेगा, अतः ज्ञानी जीव विभावरूप समस्त परिणामन को मिथ्यात्व के समान जानकर यह भावना भाते है कि अपने आत्मनाथ को छोड़कर हम अन्यत्र कहीं जाए ही नहीं।

ज्ञानी को हुआ विभावरूप परिणाम किसी कर्म के कारण नहीं है, अपितु अन्तरंग निमित्तरूप जीव की विभावरूप शक्ति के कारण है। जीव में राग अथवा विभावरूप परिणाम होते हैं, वह विभाव परिणामन शक्ति का कार्य है, जो जीव की स्वयं की है।

आत्मा के ज्ञानादि अनन्त शक्तियों में एक वैभाविक शक्ति भी है। यह वैभाविक शक्ति जीव-पुद्गल को छोड़कर अन्य चार द्रव्यों में नहीं है, अतः वैभाविकशक्ति को विशेषशक्ति कहा गया है। यह विभावशक्ति जीव की विभावरूप परिणामन शक्ति है। इसी शक्तिविशेष के कारण अपनी पर्याय में विभावरूप होने की योग्यता है अर्थात् वैभाविक शक्ति

के परिणमन के कारण मुझ में राग होने की वैभाविक योग्यता है।

प्रश्न :- वैभाविक शक्ति से तात्पर्य क्या है ?

उत्तर :- वैभाविक शक्ति त्रिकाल जीव में विद्यमान है और जो अन्तर में विभाव होते हैं, वे वर्तमान परिणमन के कारण अपनी योग्यता से होते हैं। मेरे स्वयं के विभावरूप परिणमन और तदनुसार मेरी योग्यता के कारण राग होता है। त्रिकाल शक्ति तो शक्तिरूप स्वतः विद्यमान है। वह शक्ति विभावरूप परिणमन नहीं करती।

जीव को राग हुआ, वह कर्म को लेकर या कर्म के कारण नहीं हुआ। बाह्य में जो झंझट या विकार दिखाई देते हैं, वे भी कर्म के कारण नहीं हैं। यहाँ तक कि समकिति को आत्मज्ञान के समय आत्मा के भानपूर्वक जो रागादि के आंशिक भाव होते हैं, वे भी वैभाविक शक्ति के विपरीत परिणमन के कारण अपनी स्वयं की योग्यता से होते हैं। वैभाविक शक्ति का परिणमन विकाररूप हुआ है - ऐसा नहीं समझना; क्योंकि वैभाविक शक्ति तो सिद्धों में भी विद्यमान है, यदि वैभाविक शक्ति का विकाररूप परिणमन माने तो सिद्धों के विभावभाव की विद्यमानता का प्रसंग आयेगा।

प्रश्न :- क्या सिद्धों में भी वैभाविक शक्ति है ?

उत्तर :- हाँ भाई ! सिद्धों में भी वैभाविक शक्ति है; किन्तु वहाँ उस शक्ति का स्वभावरूप परिणमन हो रहा है। वैभाविक शक्ति है, इसलिए विभावरूप परिणमन हो - ऐसा नहीं है, अपितु यह वैभाविक शक्ति जब निमित्ताधीन होती है, तब उसका विभावरूप परिणमन होता है। कर्म के कारण विभावरूप परिणमन है - ऐसा नहीं, इसी बात के निराकरण हेतु उक्त बात का स्पष्टीकरण किया है।

ज्ञानी को भी कर्म का अत्यधिक जोर होने से (कर्म उदय में आने से) राग होता है; किन्तु यह निमित्त की अपेक्षा किया गया कथन है।

पण्डित जयचन्द्रजी छाबड़ा भी इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहते

हैं कि समस्त विभावरूप परिणमन स्वयं की योग्यता के कारण ही है।

प्रवचनसार में ४७ नयों का वर्णन है, उसमें एक ईश्वरनय भी है। उसका अर्थ यह है कि जिसप्रकार पराधीनता वश धाय-माँ बालक का पालन-पोषण करती है; उसीप्रकार आत्मा स्वयं पराधीन होकर राग को करता है। **कर्म पराधीनता करावे - ऐसा नहीं है।**

यहाँ तो प्रत्येक बात को समझने की आवश्यकता है; किन्तु जीव को तत्त्व के यथार्थ निर्णय का ठिकाना ही नहीं है, अतः सत्य-स्वरूप क्या है, परमात्मा क्या कहते हैं ? इसकी उसे खबर ही नहीं।

अन्तर में विद्यमान वैभाविक शक्ति स्वयं की योग्यता से है। निमित्ताधीन होकर जो विकार जीव को हुआ, वह उसकी स्वतंत्र अवस्था है, कर्म स्वयं जीव को विकार नहीं कराते।

सम्यग्दृष्टि अथवा ज्ञानी संतों को जो विकार होते हैं, उसमें चारित्र मोह का उदय बहिरंग निमित्त है तथा स्वयं की योग्यता अन्तरंग निमित्त है। प्रत्येक बोल से जीव व कर्मों में पृथक्ता सिद्ध की है। कहा भी है -

कर्म विचारे कौन, भूल मेरी अधिकाई।

अग्नि सहे घनघात, लोह की संगति पाई ॥

मोक्षमार्ग प्रकाशक में भी पण्डित टोडरमलजी कहते हैं कि “जो जिन आज्ञा को मानते हैं, वे जीव कर्म से राग होना माने - ऐसी अनीति उनके संभव नहीं है।”

वास्तव में ज्ञानी जीव कर्म के कारण राग होना माने - ऐसी अनीति उनके संभव ही नहीं है। जगत के जीव इस बात को यूँ ही उड़ा देते हैं, इसे एकान्त समझते हैं। वे कहते हैं कि यह सोनगढ़ वाले तो खोज-खोजकर विकार की स्वतन्त्रता सिद्ध करते हैं; किन्तु भाई ! आचार्य अमृतचन्द्र श्लोक में जो कह रहे हैं, हम वही बात बता रहे हैं। तीर्थंकर देव के शासन विरुद्ध यहाँ कुछ भी नहीं है।

आत्मज्ञान प्रगट होने पर जीव को राग का स्वामित्वपना छूट गया

हैं; तथापि ज्ञानी जीव को जो राग आता है, वह अपनी स्वयं की योग्यता के कारण ही आता है। वहाँ जीव की विभावरूप परिणमन शक्ति अन्तरंग कारण है और मोहनीय कर्मरूप परिणमित पुद्गलपिण्ड का उदय बहिरंग निमित्त कारण है।

लोग कहते हैं कर्म का जोर होने से विकार होते हैं; किन्तु यह सब झूठ है। वास्तव विकार का कर्ता जीव स्वयं अपनी योग्यता से है। कर्म के कारण विकार होते हैं – ऐसा मानना सर्वथा मिथ्या है।

बलभद्र बलदेव श्रीकृष्ण के मृत शरीर को छह माह तक लेकर घूमते रहे। रामचन्द्र भी लक्ष्मण की मृत देह को लेकर छह माह तक घूमते रहे, इसमें एकमात्र कारण राग ही था, जो उनके स्वयं के दोष से हुआ था, कर्म के कारण नहीं।

बलभद्र बलदेव एवं रामचन्द्रजी को निज अन्तर में पूर्णतः भान था कि रागादि विकारी भाव मेरी वस्तु नहीं है; किन्तु कमजोरीवश उनकी वैसी अवस्था हुई। इस सन्दर्भ में लोग कहते हैं कि – उन्हें कर्म का उदय था, अतः छह माह तक मृत देह को लेकर घूमते रहे, तत्पश्चात् कर्म के उदय का अभाव हुआ और मृत शरीर को छोड़ दिया; किन्तु भाई ! वास्तव में ऐसा नहीं है। छह माह तक हुआ रागरूप अपराध तो स्वयं के कारण था, उसमें कर्मादि निमित्त नहीं थे।

जीव का विभाव परिणाम दो प्रकार का है – १) दर्शनमोह एवं २) चारित्रमोह। यहाँ जीव का सम्यक्त्व गुण ही विभावरूप होकर मिथ्यात्व में परिणमित हुआ है।

अहाहा ! आत्मा में अनादि से श्रद्धा नाम का गुण विद्यमान है। वह सम्यक् रूप परिणमित न होकर मिथ्यात्वरूप परिणमा है, उसमें दर्शनमोहनीय कर्म बाह्य निमित्त है और अन्तरंग कारण आप स्वयं है।

प्रश्न :- कर्म और जीव में बलवान कौन हैं ?

उत्तर :- विकार को बलवान कहते हैं; किन्तु वास्तव में ऐसा है

नहीं। कभी विकार बलवान है तो कभी जीव का स्वभाव बलवान है।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा है 'कभी कर्म बलवान तो कभी विकार बलवान है; किन्तु जब कर्म बलवान कहलाता है, वहाँ कर्म पर निमित्त का जोर होने से कर्म को बलवान कहा जाता है।

अरे भाई ! तुझे सच्ची बात का ठिकाना ही नहीं है और तू धर्म करना चाहता है। धर्म करने के लिए सर्वप्रथम धर्म क्या है ? यह समझना आवश्यक है। यदि वास्तविक धर्म के साथ जीव का एक समय भी व्यतीत होवे, तो वह समय संसार अभाव का कारण बने।

ज्ञानावरण के कारण ज्ञान में हीनता आती है – ऐसा लोग मानते हैं; किन्तु भाई ! ज्ञान में हीनाधिकता ज्ञानावरण के कारण नहीं, अपितु स्वयं के कारण है। उसमें ज्ञानावरण कर्म कुछ नहीं करता। ज्ञानावरण कर्म के कारण ज्ञान में हीनाधिकता हो, यह बात तीन काल में सत्य नहीं है; किन्तु हिन्दुस्तान के सब पण्डित/मुनियों में इसप्रकार के कथन की प्रथा प्रचलित है, इसमें सामान्यजन भी क्या करें ?

यहाँ तो इतना समझना कि ज्ञान में जो हीन दशा हुई, वह अपने स्वयं के कारण हुई है, जो अन्तरंग कारण है तथा ज्ञानावरणरूप जड़ कर्म उसमें बहिरंग कारण है। 'कर्म का जोर है', अतः हम व्यापार-धंदा नहीं छोड़ सकते – ऐसा कुछ लोग कहते हैं; किन्तु यह बात पूर्णतः असत्य है। मिथ्यात्वरूप परिणति तो अपने स्वयं के कारण है।

पण्डित कैलाशचन्द्रजी (बनारसवाले) और अन्य विद्वानों की बात याद आती है, उनमें कुछ विद्वान क्रमबद्धपर्याय को नहीं मानते और निमित्त से थोड़ा-बहुत कार्य होना मानते थे, जिसका स्पष्टीकरण करते हुए ही कैलाशचन्द्रजी कहते – (१) क्रमबद्धपर्याय तो पूर्णतः सत्य है और (२) निमित्त भी है; लेकिन निमित्त पर का कुछ नहीं करता है। पर में जो कुछ भी नहीं करें, वास्तव में उसी का नाम निमित्त है।

इसप्रकार जीव के श्रद्धा और ज्ञान गुण का स्वरूप समझना ।

अब जीव के चारित्र गुण की बात करते हैं - यहाँ जीव का विषय-कषायरूप परिणमन हुआ, वह अपने कारण से है । उसमें अन्तरंग कारण तो जीव स्वयं है और बहिरंग कारण चारित्रमोह का उदय है । एक बाह्य निमित्त है और एक अन्तरंग निमित्त है ।

कोई कहता है कि इन्द्रियों से ज्ञान होता है; किन्तु यह बात असत्य है । ज्ञान तो अपनी स्वयं की पर्याय में स्वयं की योग्यता से होता है, उसमें इन्द्रियाँ निमित्त है; किन्तु करती कुछ नहीं है ।

‘....विशेष यह कि उपशम और क्षपण का क्रम इसप्रकार है; पहले मिथ्यात्व कर्म का उपशम होता है या क्षपण होता है....उसके बाद चारित्रमोह का उपशम या क्षपण होता है.....।’

तात्पर्य यह है कि सर्वप्रथम मिथ्यात्व अर्थात् दर्शनमोह का उपशम या क्षय होता है; पश्चात् चारित्रमोह का उपशम और क्षय होता है ।

अभी मिथ्यात्व का तो नाश नहीं हुआ और चारित्र का नाश हो जाए - ऐसा संभव नहीं है । वास्तव में तो मिथ्यात्व के त्यागपूर्वक राग का त्याग होना यथार्थ त्याग कहलाता है ।

इस बात को इसप्रकार सिद्ध करते हैं - क्षायिक समकिति श्रेणिक राजा ने तीर्थकर गोत्र बाँधा, वहाँ उन्हें चारित्रमोहसंबंधी राग है; किन्तु वह राग अपने स्वयं के कारण है और चारित्रमोह कर्म उसमें निमित्त है । श्रेणिक राजा का जीव अभी नरक में है, वहाँ भी उस जीव के जो राग विद्यमान है, वह अपने स्वयं के कारण है ।

वे क्षायिक सम्यक्त्वी श्रेणिक राजा भविष्यकालीन चौबीसी के प्रथम तीर्थकर होंगे । उन्हें तीर्थकर की जातिरूप पुण्यबंध हुआ है; किन्तु जिन सोलह कारण भावनाओं को भानेरूप विकल्प के कारण तीर्थकर गोत्र का बंध हुआ है, वह भाव भी राग है, धर्म नहीं ।

पुण्यरूप विकार भी स्वयं के कारण हुआ है, कर्म के कारण नहीं । कर्म अर्थात् निमित्त नाम की वस्तु इस विश्व में है; किन्तु इस निमित्त के कारण पर में किसीप्रकार का परिणमन होता है, ऐसा नहीं ।

आत्मा स्वयं अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप का अनुभव करता है, तथापि उस शुद्धभाव के साथ अशुद्धभाव के रहने में कुछ विरोध नहीं है ।

विरोध नहीं है का तात्पर्य यह है कि - जिसप्रकार मिथ्यादर्शन-सम्यग्दर्शन अथवा मिथ्याज्ञान-सम्यग्ज्ञान में विरोध है, उसप्रकार शुद्धपना और अशुद्धपना के एक साथ रहने में कोई विरोध नहीं है ।

द्रव्य तो उसे कहते हैं, जिसे अपने कार्य के लिए अन्य किसी साधन की जरूरत ही नहीं पड़े । जिसे अन्य साधन की आवश्यकता लेना पड़े, वह द्रव्य ही नहीं है ।

अहाहा ! आत्मा शुद्ध द्रव्य है - ऐसे आश्रय पूर्वक जिसे शुद्धता का अनुभव हुआ उसे अपने कार्य अर्थात् निर्मल परिणति, वीतरागी दशा मोक्षमार्ग की परिणति अथवा स्वद्रव्य का कार्यलाभ प्राप्त करने हेतु अन्य साधनों की राह नहीं देखनी पड़ती ।

द्रव्यस्वभाव, पूर्णानन्द परमात्मा, अनंत रत्नाकर का दरिया, अनंतगुणों का गोदाम जो आत्मद्रव्य अन्दर में विराजमान है - उसकी जिसे दृष्टि हुई, उसे ही निज द्रव्य की प्राप्ति हुई है ।

जिसे अपने कार्य अर्थात् वीतरागता की प्राप्ति के लिए पर साधन की राह नहीं देखना पड़े, उसे द्रव्य कहा जाता है । ऐसे द्रव्यस्वभाव दृष्टि में अनुभव होते ही द्रव्यलाभ प्राप्त होता है ।

यहाँ व्यवहार अथवा बाह्य अपेक्षाओं की आवश्यकता नहीं है । हे भाई ! भाषा अत्यन्त सरल, सामान्य है; किन्तु मर्म बहुत भरा है ।

अहाहा ! निज भगवान आत्मा अनन्तगुणों का सागर, शक्तियों का संग्रहालय है । परमात्मस्वरूप भगवान आत्मद्रव्य की जिसे प्रीति

और प्रतीति हुई है, उसे स्व-कार्य अर्थात् स्व-चारित्र, आनन्द, केवलज्ञान के लिये किसी भी परसाधन की आवश्यकता या अपेक्षा नहीं है। दृष्टि में द्रव्य कहो या पर्याय में कार्य कहो, दोनों बातें एक ही हैं; यहाँ परद्रव्य की रंचमात्र भी अपेक्षा नहीं है।

द्रव्य अर्थात् निज भगवान आत्मा ! जो एक समय में पूर्णानन्द का नाथ है तथा जिसे अपने कार्य या निर्मल पर्याय की प्राप्ति के लिये अन्य साधनों की राह नहीं देखना पड़ता।

‘मैं द्रव्य हूँ’ - ऐसी जिसे प्रतीति नहीं है, राग और पर्याय की ही प्रतीति है, उसके लिए द्रव्य कभी भी साधन नहीं है; किन्तु जिसे परमात्म-पूर्णानन्दस्वरूप निज द्रव्य की प्रतीति हुई है, उसे अपने निर्मल कार्य के लिए अन्य साधनों की राह नहीं देखना पड़ता।

यहाँ व्यवहार की समस्त अपेक्षाओं को उड़ाकर अपने निज कार्य के लिये द्रव्य स्वयं ही पर्याप्त है - ऐसा कहा। वास्तव में द्रव्य वही है, जिसे अपने कार्य अर्थात् पर्याय की शुद्धता के लिए अन्य साधनों की राह नहीं देखना पड़े।

द्रव्य पदार्थ अर्थात् आत्मा। जिसप्रकार लक्ष्मी का व्यापार करने के लिए अन्य लक्ष्मीवान व्यक्ति की जरूरत नहीं पड़ती। उसीप्रकार भगवान आत्मद्रव्य, पूर्णानन्दनाथ, शुद्धचैतन्यघनरूप द्रव्यपदार्थ को अपने स्वयं के सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और केवलज्ञान के कार्य हेतु अन्य साधनों की राह नहीं देखना पड़ता; क्योंकि द्रव्य स्वयं अपने लिए साधन और साध्य है - ऐसा सर्वज्ञ भगवान की वाणी में आया है।

अहाहा ! सम्यग्दर्शन हुआ, वहाँ द्रव्य की प्रतीति हुई है। द्रव्य है तो ऐसा कार्य हुआ। कार्य के होने में प्रतीति होती है। द्रव्य के कार्य अर्थात् चारित्र-आनन्द-केवलज्ञान इत्यादि में परद्रव्य की जरूरत ही नहीं है। द्रव्य स्वयं परिपूर्ण भगवान आत्मा है।

भगवान आत्मा तो अमर्यादित शक्ति का भण्डार प्रभु वस्तु स्वयं है। इस वस्तु के कार्य के लिए पर्याय को द्रव्य की जरूरत है। जहाँ दृष्टि में द्रव्य आया, वहाँ अन्य किसी साधन की जरूरत नहीं है।

लोग कहते हैं कि व्यवहार से निश्चय होता है; किन्तु बापू ! तुझे इसकी खबर ही नहीं है। भगवान आत्मा तो वीतराग-निर्विकार स्वरूप है, उसमें विद्यमान वीतरागभाव के कारण वीतरागता का कार्य होता है, व्यवहार के कारण नहीं।

स्वयं पदार्थ प्रभु ज्ञायकभाव, उसकी शुद्धतापूर्वक जो भाव हुआ, वह शुद्धता है। इस शुद्धता के कार्य में किसी पर की अपेक्षा नहीं है; क्योंकि शुद्धता के कार्य हेतु शुद्धद्रव्य का होना आवश्यक है।

हे प्रभु ! तू कौन है ? कैसा है ? इसका तुझे भान होना चाहिए। अपरिमित अनंत ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि एक-एक शक्ति से भरा प्रभु तू स्वयं है। एक-एक शक्ति अर्थात् गुणों का गोदाम हैं और एक-एक शक्ति में अनन्त सामर्थ्य भरा हुआ है - ऐसी अनंत शक्तियाँ तेरे अन्तर में तेरी प्रभुता के कारण विद्यमान हैं।

एक-एक शक्ति अनन्त प्रभुता स्वरूप गुणों से भरी हुई है। आत्मा में प्रभुत्व नाम का एक गुण है - इस प्रभुत्व गुण का स्वरूप अनंतगुणों में व्याप्त है। प्रभुत्वगुण उन शक्तियों में नहीं है; किन्तु प्रभुत्वगुण का रूप एक-एक शक्ति में व्याप्त है। ऐसी संख्या अपेक्षा जिसमें अनंत शक्तियाँ विद्यमान हैं - ऐसा शक्तियों का पिण्ड भगवान आत्मा तू स्वयं है।

अहाहा ! जिसे द्रव्य के अस्तित्व का स्वीकार है, उसे अपने स्वरूप का स्वीकार करने के लिए अन्य वस्तु की आवश्यकता नहीं है। द्रव्य का स्वीकार हो तो राग की मंदता स्वतः होती है। अहो ! इसमें देव-शास्त्र-गुरु की सहायता हो - ऐसा नहीं है।

प्रश्न :- पर्याय को द्रव्य की जरूरत है या नहीं ?

उत्तर :- यह बात बाद में है। यहाँ जो कार्य हुआ, उसे अर्थात् द्रव्य के कार्य को पर की अपेक्षा नहीं है। बस ! इतना ही सिद्ध करना चाहते हैं। वास्तव में जो कार्य हुआ, उसे द्रव्य की भी अपेक्षा नहीं है। वह कार्य अपनी स्वयं की योग्यता से हुआ है। यही जिनदेव का मार्ग है।

द्रव्य तो पूर्णानन्द का नाथ, शुद्ध चैतन्यघन, अनन्त रत्नाकर प्रभु है। 'और ऐसा द्रव्य मैं स्वयं हूँ' - यह स्वीकार पर्याय में आता है। द्रव्य का स्वीकार द्रव्य में नहीं आता। अहाहा ! प्रभु का तो यही मार्ग है। पहले कहा था न कि पर्याय में तुम्हारा द्रव्य है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि - कारण परमात्मा है तो कारण का कार्य होना चाहिए; क्योंकि कारण परमात्मा तो अनादि से है। कारण परमात्मा, द्रव्यस्वभाव, त्रिकाली ज्ञायकभाव, त्रिकाली ध्रुव - सब एक ही है; अतः कारण जीव हो तो कार्य होगा - ऐसा है क्या ?

उसका समाधान यह है कि - कारण आत्मा और कारण परमात्मा कौन है ? जिसकी प्रतीति में कारण जीव आया, उसे द्रव्यपने का भाव हुआ और जिसे प्रतीति ही नहीं हुई, उसे 'द्रव्य है' यह भाव कैसे होगा ?

यह मार्ग तो जगत से अत्यन्त भिन्न हैं। लोग कहते हैं कि यह सोनगढ़ का एकान्त है, व्यवहार का लोप है; किन्तु यही एकान्त सच्चा एकान्त है, सम्यक् एकान्त है।

जिसने द्रव्य स्वभाव का आश्रय और लक्ष्य किया है, उसे पर के लक्ष्य से कार्य होता है, यह बात जँचती ही नहीं है। पराधीनता की बात उसे सुहाती ही नहीं है।

हे प्रभो ! आत्मवस्तु तो अनन्त शक्तियों के संग्रहस्वरूप भगवान है। उत्पाद-व्यय अनित्य है। अनित्य में नित्य की प्रतीति होती है, नित्य में नित्य की प्रतीति नहीं होती।

जिसे 'मैं कारण परमात्मा हूँ' - ऐसी प्रतीति है, उसे सम्यग्दर्शनरूप कार्य हुए बिना रहेगा ही नहीं तथा कारण परमात्मा जिसकी दृष्टि में आया है, उसे क्रमशः चारित्र और केवलज्ञान होता ही होता है।

अनन्तशक्तियों के महाभण्डार द्रव्य की दृष्टि करते ही राग के साथ एकता की डोर टूट जाती है। राग और त्रिकाली स्वभाव एक है - ऐसी मिथ्यात्व की मान्यता हटने से राग से एकता टूट गई है और अब मैं राग से विभक्त हूँ - ऐसा स्वरूप ख्याल में आया है।

ग्रन्थाधिराज समयसार की पाँचवीं गाथा में एकत्व-विभक्त आत्मा की बात आयी है। वहाँ जीव राग से विभक्त और अपने स्वभाव के साथ एकत्वपने रूप स्थापित हुआ है। वीतरागता के पूर्ण होने में एक निज द्रव्य का आश्रय ही कारण है, उसमें पर की कोई अपेक्षा नहीं है। इसमें मनुष्यपने अथवा वज्रनाराच संहनन इत्यादि होने की कोई अपेक्षा नहीं है। शास्त्र का बहुज्ञान हो, धारणा हो, देव-गुरु की श्रद्धा हो, पंचमहाव्रतादि के परिणाम हों तो लाभ होगा - ऐसा भी नहीं है।

प्रश्न :- काललब्धि आने पर ही तो कोई बात समझ में आयेगी ?

उत्तर :- यह प्रश्न हो सकता है; किन्तु काललब्धि से तात्पर्य क्या है ? काललब्धि कहते किसे हैं ? इसका ज्ञान होना चाहिए।

मूढ़-मिथ्यादृष्टि अज्ञानी जीवों को इस बात का पता ही नहीं है। वास्तव में जिसने स्व-पुरुषार्थ से द्रव्य का आश्रय लिया और पर्याय में भी जिसे ज्ञान-आनन्द आदि दशा की प्राप्ति हो गई है, उसे उसीसमय स्व-काललब्धि का ज्ञान हो गया।

आप स्वयं सर्वज्ञस्वभावी भगवान आत्मा है। इसप्रकार निज ज्ञानस्वरूप की दृष्टि करे तो पर्याय में ही सर्वज्ञपने की प्रतीति होती है।

इसलिए सर्वज्ञ परमात्मा को एक ओर रखकर मैं स्वयं सर्वज्ञ स्वभावी भगवान आत्मा हूँ। मैं स्वयं सर्वज्ञस्वरूपी वस्तु हूँ। न मैं अल्पज्ञानी हूँ

और न विपरीत ज्ञानवाला हूँ - ऐसा परिपूर्ण निर्णय होना चाहिए।

मैं स्वयं सर्वज्ञ स्वभावी चैतन्य सूर्य हूँ - ऐसी जिसे निज आत्मद्रव्य की प्रतीति हुई, उसे आत्मतत्त्व की प्राप्ति अवश्य होती है; क्योंकि प्रतीति बिना आत्मा सर्वज्ञ स्वभावी है - यह कैसे पता चले ? जिन्हें आत्मद्रव्य की प्रतीति ही नहीं हुई, उनके लिए तो आत्मा है ही नहीं, वे जीव तो अधर में हैं, अभी उनका कोई ठिकाना ही नहीं है।

‘णमो अरिहंताणं’ में सर्वज्ञ परमात्मा को नमस्कार करना, अन्य बात है। यहाँ तो मैं स्वयं सर्वज्ञ स्वभावी हूँ - ऐसा पक्का निर्णय चाहिये। जगत को जाननेवाला कहो अथवा सर्वज्ञ स्वभावी कहो, ‘ज्ञ’ स्वभाव के आगे सर्व शब्द लगावें तो आत्मा सर्वज्ञ स्वभावी कहलाता है।

इसप्रकार अनादि से आप स्वयं सर्वज्ञस्वभावी भगवान आत्मा हैं। हे भाई ! यह बात जंचने में थोड़ी कठिन लगती है; किन्तु यही बात अपने हित की है, सो अच्छी और सच्ची है।

वीतराग प्रभु का मार्ग अत्यन्त अलौकिक है। जिनेश्वरदेव परमात्मा तो कहते हैं कि सभी जीव, सर्व काल, सर्व क्षेत्र व सर्व भाव से अपने ‘ज्ञ’ स्वभाव से परिपूर्ण भरे हुए हैं।

भव्य-अभव्य दोनों ही जीव निज परिपूर्ण स्वभाव अर्थात् ज्ञान-दर्शन-आनन्द से भरे हुए हैं। उनमें अभव्य जीवों की पर्याय में वीतरागता प्रकट नहीं हो सकती, यह बात भिन्न है; किन्तु जिन्हें अपना कार्य करना है, उन्हें यही बात स्वीकार करना पड़ेगी।

यहाँ इतना अवश्य समझना कि सर्वज्ञस्वभावी वस्तु की जो स्थिति है, उसकी अन्तर-प्रतीति हो और मेरे कार्य में स्व द्रव्य के अतिरिक्त किसी परद्रव्य का कोई कार्य नहीं हो सकता - ऐसे यथार्थ निश्चयपूर्वक सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और तत्पश्चात् क्रमशः चारित्र की वृद्धिपूर्वक केवलज्ञानस्वरूप पर्याय प्राप्त होती है। वहाँ निज शुद्धात्म द्रव्य के

अतिरिक्त अन्य किसी का आश्रय हो - ऐसा नहीं है। वज्रनाराच संहनन, मनुष्यपना, पर्याप्तक इत्यादि जो अपेक्षाएँ हैं, वे सभी व्यवहार हैं।

बहुत वर्षों पहले एक पण्डितजी आये थे, जो कहते थे कि वज्रनाराच संहनन हो तो केवलज्ञान होगा; किन्तु हे प्रभो ! यह सारा कथन निमित्त की अपेक्षा है, वहाँ निमित्त से कुछ नहीं होता। संसार-सागर तिरने के सच्चे उपाय की समझ होना चाहिए।

इस संसार-सागर को तिरने का उपाय अर्थात् भगवान आत्मा स्वयं के पास है; किन्तु अनादि से इस जीव की दृष्टि ही विपरीत है। जहाँ अपनी वस्तु है, वहाँ हम खोजते नहीं और जहाँ अपनी वस्तु नहीं है, वहाँ हमारी खोज चल रही है।

अहाहा ! राग अथवा एक समय की पर्याय में भी सर्वज्ञस्वभावी भगवान आत्मा विद्यमान हैं। मेरा स्वभाव द्रव्यस्वरूप है, उसकी स्वसन्मुखतापूर्वक जहाँ प्रतीति और अनुभव हुआ तो स्व कार्य प्रारम्भ हुआ। इसके लिए किसी पर के सहायता की कोई जरूरत नहीं है। यहाँ तक कि चारित्र और केवलज्ञान के लिए भी पर की अपेक्षा नहीं है।

बंधाधिकार में आता है कि - दर्शन-ज्ञान कारण है और चारित्र कार्य है। दर्शन-ज्ञान नहीं है तो चारित्ररूपी कार्य भी नहीं है; किन्तु वहाँ की अपेक्षा भिन्न है। वास्तव में चारित्रगुण (पर्याय) का कारण तो चारित्रशक्ति है और शक्तिमान आत्मा चारित्ररूप कार्य का कारण है।

यहाँ यह सिद्ध करना है कि - प्रथम सम्यग्दर्शन-ज्ञान हो तो चारित्र होता है; परन्तु सम्यग्दर्शनरूप पर्याय के कारण चारित्र की पर्याय प्रकट होती है - ऐसा नहीं अथवा चारित्ररूप कार्य का कारण सम्यग्दर्शन है, ऐसा भी नहीं। जिसे निज अन्तर में द्रव्य स्वभाव की प्रतीति हुई तो उसके जीवन में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप कार्य होता ही होता है और यही जैन का यथार्थ मार्ग है।

‘...वहाँ किसी काल में जीव को शुद्धपना-अशुद्धपना एक ही समय में घटता है....’ - यहाँ द्रव्य का जितना आश्रय लिया, उतना शुद्धपना प्रगट है; किन्तु जबतक द्रव्य का पूर्ण आश्रय नहीं है, तब तक पर के लक्ष्य से पुण्य-पापरूप अशुद्धभाव उत्पन्न होते रहते हैं। इसप्रकार एक ही समय में मोक्षमार्ग भी है और अशुद्धपना भी है; किन्तु दोनों एकसाथ रहते हुये भी उन दोनों में कोई बाधा नहीं है।

अहाहा ! जबतक भगवान आत्मा का पूर्ण आश्रय नहीं है, तबतक परद्रव्य का ही लक्ष्य आता है। भगवान पूर्णानन्द प्रभु दृष्टि में आया। ज्ञान के एक समय की पर्याय में पूर्णता का ज्ञान आया हुआ; किन्तु पर्याय में अभीतक पूर्णता व्यक्त नहीं हुई है, अतः अपूर्णता है।

समयसार, गाथा १७-१८ में अज्ञानी जीव की ज्ञान पर्याय में स्व-पर प्रकाशकपना कहा है। वहाँ पर्याय में द्रव्य जानने में आ रहा है, यह बात मुख्य है। अज्ञानी की ज्ञान पर्याय क्षयोपशम ज्ञान का अंश है, उसे स्वभाव के स्व-पर प्रकाशक के लिए पर्याय में भी स्वद्रव्य का आश्रय लेना पड़ता है। अनादि से ज्ञान पर्याय में सम्पूर्ण द्रव्य ही जानने में आ रहा है; किन्तु अज्ञानी की दृष्टि इस ओर है ही नहीं।

अहाहा ! अज्ञानी को भी वर्तमान ज्ञान अर्थात् क्षयोपशमरूप ज्ञान के विकास का जो अंश विद्यमान है, वह पर की ओर झुका हुआ है, पर्याय में स्वद्रव्य का हुआ है, किन्तु उसकी दृष्टि अन्तर में नहीं, अपितु बाहर की ओर हैं, इसकारण स्व-ज्ञान में आत्मा ज्ञात होने पर भी जानने में नहीं आ रहा है, यह विचित्रता है।

अज्ञानी को यह भासित होता है कि मुझे राग जानने में आ रहा है; किन्तु भाई ! अल्प ज्ञानपर्याय की भी सामर्थ्य कितनी है ? वह अल्प ज्ञान पर्याय भी स्व-पर समस्त द्रव्यों को जानने की सामर्थ्य से भरी है।

नाटक समयसार में पण्डित बनारसीदासजी कहते हैं -

स्व-पर प्रकाशक शक्ति हमारी, तातैं वचन भेदभ्रम भारी ।
ज्ञेय शक्ति दुविधा परकाशी, निजरूपा-पररूपा भासी ॥

‘स्व-पर प्रकाशक शक्ति हमारी’ स्व और पर को प्रकाशक करनेवाली शक्ति हमारी पर्याय में विद्यमान है। स्व और पर स्वरूप दो ज्ञेय हैं। स्व-ज्ञेय अर्थात् स्वद्रव्य और परज्ञेय अर्थात् परद्रव्य। सर्वप्रथम पर्याय में स्वज्ञेय जानने में आता है, पश्चात् परज्ञेय जानने में आते हैं; किन्तु यह बात लोगों को कड़वी लगती है, अभ्यास नहीं है न?

एक समय की पर्याय स्वद्रव्य का भी ज्ञान करती है और छह द्रव्य का भी ज्ञान करती है। एक समय की पर्याय अथवा श्रुतज्ञान की पर्याय अल्प है, तथापि ज्ञान पर्याय में स्वद्रव्य का ही ज्ञान होता है।

स्वद्रव्य अथवा अन्य छह द्रव्य पर्याय में नहीं आते; किन्तु उनका ज्ञान निज ज्ञानपर्याय में होता है। इसप्रकार एक ही समय में स्वद्रव्य और परद्रव्य का ज्ञान हुआ है।

ज्ञान गुण के एक समय की पर्याय में इतनी सामर्थ्य भरी हुई है; परन्तु प्रतीति का विषय आश्रयभूत द्रव्य पर्याय आश्रय नहीं करता, तथापि द्रव्य का भावभासन पर्याय में ही होता है और द्रव्य के भासित होने पर पर्याय के लक्ष से भासित होनेवाली वस्तु स्वपदार्थ है।

यहाँ शुद्धपना और अशुद्धपना दोनों के एक साथ रहने की बात हैं। निज आत्मा की प्रतीति द्रव्य के आश्रयपूर्वक हुई और सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान हुआ। उससमय थोड़ी शुद्धता हुई और कुछ अंश में अशुद्धता भी है; तथापि उन दोनों के एकसाथ होने में कोई विरोध नहीं है।

जिसप्रकार मिथ्यादर्शन और सम्यग्दर्शन के एक ही समय रहने में विरोध है, उसप्रकार शुद्धपना और अशुद्धपना के एकसाथ रहने में कोई विरोध नहीं है। भले ही अशुद्धपना से शुद्धपना विरुद्ध है; किन्तु उन दोनों के एकसाथ रहने में कोई विरोध नहीं है।

“....किन्तु कुछ विशेष है, वह विशेष जिसप्रकार है, उसप्रकार कहते हैं। ‘अत्र अपि’ एक ही जीव के एक ही काल में शुद्धपना और अशुद्धपना यद्यपि होता हैं; तथापि वे अपना-अपना ही कार्य करते हैं.....” अर्थात् यहाँ शुद्धपना संवर-निर्जरा का कार्य करता है और अशुद्धपना बंध का कार्य करता है।

यहाँ कोई कहे कि शास्त्र में ‘सम्यग्दृष्टि के भोग निर्जरा के हेतु कहे हैं। वास्तव में सम्यग्दृष्टि को जितना अशुद्धपना है, उतना सब बंध का कारण है और जितना शुद्धपना है, वह सब संवर-निर्जरा का कारण है। इसका विवेचन पूर्व में किया जा चुका है।

हे भाई ! यह मार्ग ही ऐसा है। आज तक तुमने आत्मा का आश्रय लिया ही नहीं और चौरासी के अवतार में ही अनंत काल से रखड़ रहे हो। कदाचित् बाहर में थोड़ा-बहुत जाननपना होता भी है तो दुनियावाले कहते हैं कि उससे आत्मा को क्या लाभ हुआ ? यही तो अज्ञानी की विपरीत मान्यता है। यथार्थ जानता नहीं है और ज्ञानी गुरु समझावें तो समझता नहीं है।

सम्यग्दृष्टि पुरुष की दृष्टि क्रिया से विरक्त है। ‘यह क्रिया मेरी है’ - ऐसा सम्यग्दृष्टि नहीं मानता। अशुद्धपने से वह विरक्त हैं; किन्तु विरक्त होने पर भी उसके अशुद्धता विद्यमान है। दृष्टि और आश्रय की अपेक्षा सम्यग्दृष्टि क्रिया से विरक्त है; परन्तु कमजोरीवश जितनी अशुद्धता है, वह स्वयं के कारण हैं, किसी कर्मादि के कारण नहीं है।

प्रश्न :- ‘क्रिया है’, इसलिए विरक्तपना है क्या?

उत्तर :- क्रिया है, इसलिए विरक्तपना नहीं है अथवा अशुद्धपना है इसलिए भी विरक्ति नहीं है। वास्तव में सम्यग्दृष्टि की दृष्टि में विरक्तपना है। अन्तर में निज द्रव्य का आश्रय है, अतः विरक्ति है।

यह मार्ग किसी को कठिन लगे, तो उसे निवृत्ति नहीं हो सकती।

यद्यपि सम्यग्दृष्टि पुरुष क्रिया से सर्वथा विरक्त है, तथापि चारित्रमोह के उदयवश उसे जितनी क्रिया है, वह बलात् ज्ञानावरणादि कर्मों का बंध कराती है। सम्यग्दृष्टि को अशुद्धता का स्वामीपना नहीं है, किन्तु पर्याय में अशुद्धपना है और इसी का उसे बंध भी है।

यहाँ कोई पूछता है कि एक ओर ज्ञानी के भोग निर्जरा के हेतु कहे हैं और दूसरी ओर ज्ञानी के विद्यमान अशुद्धता का अंश अथवा शुभक्रियारूप दया-दान-व्रतादि के विकल्प बंध के कारण हैं - ऐसा क्यों ? उससे कहते हैं कि वास्तव में ज्ञानी जीव का इन सबसे स्वामीपना छूट गया है। विरक्ति का अर्थ ही यह है कि उसमें यह जीव रक्त नहीं है।

यहाँ यह भी बात ध्यान रखना चाहिये कि क्रिया से विरक्ति की बात यहाँ नहीं है; यदि क्रिया से सर्वथा विरक्ति हो, तो इस जीव के मुनिपना हो ही नहीं सकता।

सम्यग्दृष्टि का शुभयोग सर्वथा बंध का कारण नहीं है - ऐसा भी कुछ लोग कहते हैं अर्थात् सम्यग्दृष्टि के शुभयोग को कथंचित् शुद्धता का कारण कहते हैं; किन्तु यह बड़ी भूल है। यदि मूल तत्त्व की बात समझने में ही इतना फेर है, तो उस जीव के व्रत-तपादि कहाँ से होंगे ?

व्रत-भक्ति, दया-दान-तप-पूजा आदि जितने भी विकल्प सम्यग्दृष्टि को उठते हैं, वे अंशमात्र भी संवर-निर्जरा के कारण नहीं हैं। वे तो मात्र बंध के ही कारण हैं।

शुभयोग में भी शुद्धता का अंश है - ऐसा कहा जाता है, लेकिन यह बात अन्य अपेक्षा से है। एक समय की ज्ञानपर्याय का जो अंश है, विकास है, वह निर्मल है, उस निर्मलता को ध्यान में रखकर यह निर्मल है - ऐसा चिंतवन करते-करते उसमें ही पूर्ण स्थिरता हो तो निर्मलता की प्राप्ति होती है; परन्तु चारित्र गुण में अशुद्धता हो और वह बढ़ते-बढ़ते शुद्ध हो जाये - ऐसा नहीं है। जहाँ ग्रंथिभेद है, वहाँ शुद्धता का

अंश है। शुभयोग में भी निर्मल चारित्र का अंश शुद्ध है - ऐसा विचार कर उसमें स्थिरता करने से यथाख्यातचारित्र होगा।

अहाहा ! यह चारित्र गुण के एक पर्याय की पूर्णता है, वह अन्य गुण के कारण नहीं, यह यहाँ सिद्ध किया है। सम्यग्ज्ञान की पर्याय का अंश पूर्ण निर्मल है, इसकारण चारित्रगुण की पर्याय पूर्ण निर्मल है - ऐसा नहीं, अपितु चारित्र का जो एक अंश निर्मल है, उसके कारण पूर्ण यथाख्यातचारित्र प्रकट होता है - यह सिद्ध किया है।

यद्यपि सम्यग्दृष्टि पुरुष क्रिया से पूर्णतः विरक्त है। उसे चारित्रमोह कर्म का बलात् उदय है। जो उदय हुआ, उसमें सम्यग्दृष्टि की रुचि नहीं है। वहाँ उसे आकुलता रूप शुभभाव तो है, किन्तु उसकी रुचि नहीं है।

‘बलात्’ का अर्थ चारित्रमोह कर्म के उदयरूप अशुद्धता है - ऐसा नहीं, अपितु रुचि नहीं है, अतः कमजोरीवश अशुद्धता है यह ग्रहण करना।

‘....तत् एकं ज्ञानं मोक्षाय स्थितम् - पूर्वोक्त एक ज्ञान अर्थात् एक शुद्ध चैतन्यप्रकाश ही ज्ञानावरणादि कर्मक्षय का कारण है। ...’

अहाहा ! शुद्ध भगवान् आत्मा जिसके आश्रय से निज पर्याय में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मलता प्रगट हुई है - ऐसा वह चैतन्यप्रकाश ही कर्मक्षय में निमित्त है। चैतन्यप्रकाश कर्मक्षय नहीं करता। कर्म का क्षय तो कर्म के कारण होता है।

कर्मक्षय भी स्वतः अपनी योग्यता से होता है, उसका कर्ता आत्मा नहीं है। कर्मक्षय में तो कर्म की पर्याय बदलकर अकर्मरूप परिणमित हुई है; जिसमें निमित्त चैतन्यप्रकाश है।

‘..भावार्थ इसप्रकार है - एक जीव में शुद्धपना और अशुद्धपना एक ही काल में है, परन्तु जितने अंशप्रमाण शुद्धपना है, उतने अंश में कर्मक्षयपना है और जितने अंश में अशुद्धपना है, उतने अंश में कर्मबन्ध है। एक समय और एक ही काल में दोनों कार्य हो रहे हैं। ‘एव’ ऐसा ही

है, इसमें सन्देह नहीं करना।

किन्हीं स्थानों पर सम्यग्दृष्टि को दुःख अथवा कषाय नहीं हैं आदि कथन प्राप्त होते हैं; किन्तु यह सब बातें विभिन्न अपेक्षाओं से हैं।

मुनिराज को भी जितने अंश में पाँच महाव्रतादि के विकल्प हैं, उतने अंश में दुःख और दुःख का वेदन दोनों ही हैं।

दुःख का वेदन अथवा कषाय आदि नहीं हैं, इत्यादि जो बातें कही जाती हैं, वहाँ उन जीवों को आनन्द के वेदन की मुख्यता है, अतः दुःख को गौण करके आनन्द की मुख्यता से उक्त कथन किया है। जहाँ जो अपेक्षा उचित हो, वहाँ उस बात को उसी अपेक्षा समझना चाहिये।

तथापि ज्ञानपर्याय में जो जाननपना होता है, उस अपेक्षा कर्हें तो जितने अंश में आत्मा का आश्रय हुआ है उतना सुख है और जितने अंश में अशुद्धता है, उतना दुःख साधक जीव को विद्यमान है।

इसप्रकार एक ही समय में सुख तथा दुःख दोनों का ही वेदन होता है, अतः ज्ञानी को जितनी अशुद्धता है, उतना दुःख और बंध है।

समयसार में ज्ञानी के भोगों को निर्जरा का कारण कहा, वह दृष्टि की प्रबलता से किया गया कथन है। वहाँ आश्रय अपने निज भगवान् आत्मा का है। उस जीव को भोगरूप परिणाम आने पर भी वह भोग का स्वामी नहीं है, उसके अल्प स्थिति व अल्प बंध है, इसकारण बंध नहीं - ऐसा कहा जाता है; किन्तु इसका आशय सर्वथा बंध नहीं है - ऐसा नहीं, अपितु कुछ प्रमाण में बंध अवश्य है।

‘कैसा है शुद्ध ज्ञान ? ‘परमं स्वतः विमुक्तं’ सर्वोत्कृष्ट-पूज्य और स्वतः मुक्त है।’

तीन काल में समस्त परद्रव्य और राग से भिन्न वर्तमान जो शुद्ध परिणति है, वह पूज्य है, सर्वोत्कृष्ट है और स्वयं विमुक्त है; अतः मात्र शुद्ध परिणति के कारण मोक्ष होता है और राग के कारण बंध होता है, यह विशेष जानना। इसप्रकार निजात्मा के आश्रय से प्रकट हुई, शुद्धता

मिश्रधर्म अधिकार

(पण्डित दीपचंदजी कासलीवाल रचित अनुभवप्रकाश ग्रंथ से)

अब, यहाँ मिश्रधर्म अधिकार प्रारंभ करते हैं -

वह मिश्रधर्म अन्तरात्मा को है। ऐसा काहे से ? कि - स्वरूपश्रद्धान सम्यक् है और जितना कषाय-अंश है, उतनी राग-द्वेष धारा है। आत्मश्रद्धाभाव में आनन्द होता है। कषायभाव सर्वथा नहीं गए, मुख्य श्रद्धाभाव है और गौण परभाव है; एक अखण्ड चेतनाभाव सर्वथा नहीं हुआ है, इसलिए मिश्रभाव है। बारहवें गुणस्थान तक अज्ञानभाव - एकदेश अज्ञानचेतना है और कर्मचेतना भी है; इसलिए मिश्रधारा है। उपयोग में स्वरूप की प्रतीति हुई; किन्तु शुभाशुभ कर्म की धारा बहती है, उससे रंजकभाव कर्मधारा में है; परन्तु स्वरूपश्रद्धान मोक्ष का कारण है, भवबाधा मिटाने में समर्थ है। कर्मधारा की ऐसी कोई दुर्निवार गाँठ है कि यद्यपि प्रतीति में स्वरूप का यथार्थ निर्णय किया है, तथापि सर्वथा (स्वरूप) न्यारा नहीं हुआ है, मिश्ररूप है।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि - सम्यक्गुण क्षायिकसम्यग्दृष्टि को सर्वथा हुआ है या नहीं हुआ? उसका समाधान कहो।

यदि ऐसा कहोगे कि सर्वथा हुआ है तो (उसे) सिद्ध कहो। काहे से? कि - एक गुण सर्वथा विमल होने से सर्व (गुण) शुद्ध होते हैं। सम्यक्गुण सर्व गुणों में फैला है; (इससे) सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन सर्वगुण सम्यक् हुए। (परन्तु) सर्वथा सम्यग्ज्ञान नहीं है, एकदेश सम्यग्ज्ञान है। सर्वथा सम्यग्ज्ञान हो तो सर्वथा सम्यक्गुण शुद्ध हो, इसलिए सर्वथा नहीं कहा जाता।

(तथा) यदि किंचित् सम्यक्गुण शुद्ध कहें तो सम्यक्त्वगुण का

घातक जो मिथ्यात्व-अनन्तानुबन्धी कर्म था, वह तो नहीं रहा; जिस गुण का आवरण जाए, वह गुण (सर्वथा) शुद्ध होता है; इसलिए (सम्यक्गुण) किंचित् (शुद्ध) भी नहीं बनता।

तो किसप्रकार है? उसका समाधान किया जाता है - वह आवरण तो गया, तथापि सर्वगुण सर्वथा सम्यक् नहीं हुए हैं। आवरण जाने से सर्वगुण सर्वथा सम्यक् नहीं हुए, इसलिए परम सम्यक् नहीं है। सर्वगुण साक्षात् सर्वथा शुद्ध सम्यक् हों, तब 'परम सम्यक्' ऐसा नाम होता है।

“विवक्षाप्रमाण से कथन प्रमाण है।” उस दर्शन प्रति की पौद्गलिक स्थिति जब नाश हुई, तभी इस जीव का जो सम्यक्त्वगुण मिथ्यात्वरूप परिणमा था, वह सम्यक्त्व गुण सम्पूर्ण स्वभावरूप होकर परिणमा - प्रकट हुआ। चेतन-अचेतन की भिन्न प्रतीति से वह सम्यक्त्वगुण निजजाति-स्वरूप होकर परिणमा है।

उसका लक्षण ज्ञानगुण अनन्तशक्ति द्वारा विकाररूप हो रहा था, उस गुण की अनन्तशक्ति में कुछ शक्ति प्रकट हुई। उसका सामान्यतः नाम मति-श्रुत हुआ कहते हैं अथवा निश्चयश्रुतज्ञान पर्याय कहते हैं, जघन्यज्ञान कहते हैं।

ज्ञान की शेष सर्व शक्ति रहीं, वह अज्ञान-विकाररूप होती हैं; उस विकारशक्ति को कर्मधारारूप कहते हैं।

उसीप्रकार जीव की कुछ शक्ति चारित्ररूप और शेष कुछ विकाररूप है। इसीप्रकार भोगगुण का (समझना)। सर्वगुण जितने निरावरण, उतने शुद्ध; शेष विकार - यह सब मिश्रभाव हुआ। प्रतीतिरूप ज्ञान में सर्व शुद्ध श्रद्धाभाव ('द्रव्य सर्व शुद्ध है' - ऐसा श्रद्धाभाव) हुआ है; परन्तु ज्ञान को तथा अन्य गुणों को आवरण लगा है, इसलिए मिश्रभाव है; स्वसंवेदन है, परन्तु सर्व प्रत्यक्ष नहीं है।

सर्व कर्म-अंश जाने पर शुद्ध है, अघाति रहने पर (भी) शुद्ध है। घातिया के नाश से ही सकल परमात्मा है। प्रत्यक्ष ज्ञान तो हुआ है।

तथा सिद्ध सकल कर्मरहित निकल परमात्मा हैं। अन्तरात्मा को ज्ञानधारा और कर्मधारा है।

कोई प्रश्न करे कि बारहवें गुणस्थान में दो धाराएँ हैं या एक ज्ञानधारा ही है? यदि (एक) ज्ञानधारा ही है तो (उसे) अन्तरात्मा मत कहो और यदि दोनों धाराएँ हैं तो बारहवें गुणस्थान में मोह क्षय हुआ है, राग-द्वेष-मोह सब गए हैं (तो) दूसरी कर्मधारा वहाँ कहाँ रही?

समाधान :- ज्ञान परोक्ष है, (क्योंकि) केवलज्ञानावरण है, इसलिए अज्ञानभाव बारहवें गुणस्थान तक है, इससे अन्तरात्मा है; प्रत्यक्षज्ञान बिना वह परमात्मा नहीं है। कषाय गए, किन्तु अज्ञानभाव है, इसलिए वह परमात्मा नहीं है, अन्तरात्मा हैं।

प्रश्न :- बारहवें (गुणस्थान) में अज्ञान क्या है ?

उसका समाधान :- केवलज्ञान के बिना सकल पर्यायों नहीं भासतीं, यही अज्ञान है। निज प्रत्यक्ष के बिना भी अज्ञान है, इसलिए 'अज्ञान' संज्ञा हुई, इसप्रकार यह मिश्र अधिकार (कहा)। •

आत्महित के लिए जागृत होओ

भाई ! जीवन का यह समय तुम गेंद उछालने में (क्रिकेट आदि में) गँवाते हो अथवा धन कमाने में गँवाते हो, परन्तु तुम्हारे जीवन की गेंद उछल रही है और आत्मा की कमाई का अवसर बीता जा रहा है। उसका तो कुछ ख्याल करो। ऐसा अवसर धर्म के बिना खोना नहीं चाहिए। मनुष्यभव अनन्त बार मिल चुका, परन्तु आत्मज्ञान के बिना जीव ने उसको व्यर्थ गँवा दिया। जवानी का काल विषय-वासना या धनादि के मोह में ऐसा खो दिया कि आत्मा की बात सूझी ही नहीं। इसप्रकार जीवन का कीमती समय पाप में गँवा दिया। यद्यपि आत्मा का हित करना चाहे तो जवानी में भी कर सकता है; किन्तु जो आत्मा की दरकार नहीं करते, उनको कहते हैं कि भाई ! अनन्त बार तुमने आत्मा की दरकार के बिना जवानी पाप में ही गँवा दी, अतः इस अवसर में आत्महित के लिए अवश्य जागृत होओ।

- आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी

आ. सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी के प्रवचन

(पण्डित दीपचंदजी कासलीवाल रचित मिश्रधर्म अधिकार पर)

प्रश्न :- सम्यग्दर्शन होने पर तत्काल ही सम्पूर्ण रागादि रहित दशा प्रगट होती है या कुछ अंश में रागादि शेष रहते हैं ?

समाधान :- अविरत सम्यक्त्व नामक चतुर्थ गुणस्थान से क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थान तक समस्त जीवों के साधकदशा में ज्ञानधारा और कर्मधारा - ये दो धारायें प्रवर्तती हैं।

बारहवें गुणस्थान में रागादि विद्यमान नहीं हैं, तथापि क्षयोपशमरूप अल्पज्ञान विद्यमान होने से वहाँ उतने अंश में कर्मधारा है।

आत्मा के श्रद्धान, ज्ञान व चारित्र का जितने अंश में सम्यक् रूप परिणाम हुआ, उतने अंश में उस जीव के ज्ञानधारा है और जितने अंश में रागादि विद्यमान हैं, उतने अंश में कर्मधारा है।

यद्यपि शक्ति-अपेक्षा समस्त संसारी जीव परमात्मा ही हैं; तथापि अवस्था विशेष की अपेक्षा उन्हें तीन भागों में बाँटा गया है -

१) बहिरात्मा २) अन्तरात्मा ३) परमात्मा।

१) जो आत्मा स्वयं का अनुभव न करके बाह्य परपदार्थों में अटकता है अथवा मन-वचन-काय के निमित्त से प्राप्त संयोग और रागादि भावों इत्यादि में ही अपनापन करता है, वह जीव बहिरात्मा है।

ऐसे मिथ्यात्व, सासादन सम्यक्त्व एवं सम्यग्मिथ्यात्व नामक प्रारंभ के तीन गुणस्थानवर्ती जीवों के बहिरात्मपना है।

२) जो जीव भेद-विज्ञान के बल से अपने आत्मा को परपदार्थ तथा देहादि और रागादि से भिन्न ज्ञानानन्दस्वभावी जानता है, मानता

है और अनुभव करता है, वह अन्तरात्मा है - ऐसे ज्ञानी जीव को आत्मा के आश्रय से आंशिक शुद्ध निर्मल पर्याय प्रगट होती है।

अविरत सम्यक्त्व नामक चौथे गुणस्थान से क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थान तक के समस्त जीवों के अन्तरात्मपना है।

३) जिन्होंने समस्त रागादि परभावों का सर्वथा अभाव कर पूर्ण शुद्धदशा को प्रकट किया है - ऐसे सयोगकेवली व अयोगकेवली गुणस्थानवर्ती जीव परमात्मा हैं।

इनसे भिन्न जिन जीवों के किंचित् रागादि का अभाव होने से थोड़ा धर्म प्रगट हुआ है और शेष रागादि विद्यमान होने से जितना धर्म प्रगट नहीं हुआ है, ऐसी जीव की दशा को मिश्रदशा कहते हैं।

इस दशा में जीव को 'मैं स्वयं अखण्ड, ज्ञानानन्दस्वभावी, आनन्दकन्द आत्मा हूँ' - ऐसी दृढ़ श्रद्धा तो हुई है; परन्तु आंशिक रागादि अभी भी शेष हैं, कषायभाव सर्वथा मिटा नहीं है; अतः उतने अंश में उसे कर्मधारा विद्यमान है।

समयसार कलश ११० में आचार्य अमृतचन्द्र इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि - "वस्तुस्वरूप की दृष्टि से आत्मा त्रिकाल परमात्मा ही है; परन्तु पर्याय में अभी परमात्मपना प्रकट नहीं है।"

जिसप्रकार मकान की छत पर चढ़ने के लिए सीढ़ियाँ सहायक होती हैं, उसीप्रकार आत्मा की पूर्ण दशा तक पहुँचने के लिए चौदह गुणस्थानरूपी सीढ़ियाँ माध्यम हैं; उनमें पहले से तीसरे गुणस्थानवर्ती समस्त जीव बहिरात्मा हैं, चौथे से बारहवें गुणस्थानवर्ती समस्त जीव अन्तरात्मा हैं और तेरहवें तथा चौदहवें गुणस्थानवर्ती अरहंत व सिद्ध भगवान परमात्मा हैं।

चौथे गुणस्थान में अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलनरूप तीन कषाय चौकड़ी, पाँचवें गुणस्थान में प्रत्याख्यानावरण

और संज्वलनरूप दो कषाय चौकड़ी तथा छठवें-सातवें गुणस्थानवर्ती मुनिराज के एक संज्वलन कषाय चौकड़ी ही शेष है। इसके पश्चात् दसवें गुणस्थान में अव्यक्त राग (सूक्ष्म लोभ) विद्यमान है, जो पूर्ण दशा की प्राप्ति होने तक क्रमशः नष्ट होता जाता है।

यहाँ साधकजीव की बात चल रही है। वहाँ जितने अंश में राग-द्वेष हैं, उतने अंश में बाधक-भाव है तथा जितने अंश में शुद्ध चिदानन्द आत्मा की प्रतीति हुई है, उतना आनन्द है।

यद्यपि श्रद्धा, सुख-आनन्द गुणों को ही स्वीकार करती है; तथापि जितना राग अन्तरंग में विद्यमान है, वह कर्म के कारण नहीं; अपितु वर्तमान अवस्था में मलिन पर्याय का सर्वथा अभाव नहीं होने से तथा पुरुषार्थ की कमजोरीवश विद्यमान है। दसवें गुणस्थान तक कषायभाव अर्थात् सूक्ष्म लोभ विद्यमान है; अतः एकमात्र त्रिकाली स्वभाव की दृढ़ श्रद्धा में ही यथार्थ सुख है।

चौथे-पाँचवें गुणस्थान में पूजा-प्रभावना आदि का विकल्प तथा आर्तध्यान-रौद्रध्यान होता है। छठवें गुणस्थान में भी आर्तध्यान होता है; परन्तु यहाँ उक्त सभी की गौणता और द्रव्यस्वभाव की मुख्यता है, इसकारण श्रद्धाभाव मुख्य और कषायभाव गौण अर्थात् व्यवहार होने से अभूतार्थ है।

सम्यग्दर्शन होते ही सभी पर्यायें पूर्णतः निर्मल हो गईं - ऐसा नहीं; अपितु जितना राग अन्तर में विद्यमान है, उतना दोष भी विद्यमान है।

स्व-आत्मा का श्रद्धान-ज्ञान करना, यह प्रत्येक जीव का मुख्य कार्य है, उससमय अन्तर में विद्यमान अल्प राग गौण है। अभी अखण्ड स्वभाव की प्राप्ति नहीं हुई है, परमात्मदशा प्रकट नहीं हुई है; बल्कि थोड़ा धर्म प्रगट है और थोड़ा अप्रकट है; इसलिये चौथे से बारहवें गुणस्थान तक पाये जानेवाले समस्त जीवों के भाव को मिश्रधर्म कहा है।

मिश्रधर्म अधिकार में मुख्यतः चौथे से बारहवें गुणस्थानवर्ती जीवों की दशा का वर्णन है। आत्मा ज्ञान-दर्शन स्वभाव से परिपूर्ण है; उसमें पूर्ण लीनता करके जबतक केवलज्ञान प्रकट न हो, तबतक मिश्रधर्म है।

केवलज्ञान में कर्मधारा नहीं है, वहाँ मात्र ज्ञानधारा ही है तथा जो दया-दानादि शुभविकल्पों से धर्म मानता है, शरीरादिक की क्रिया से धर्म मानता है, उस मिथ्यादृष्टि जीव के मात्र कर्मधारा ही वर्तती है; ज्ञानधारा नहीं। 'मैं एक अखण्डानन्द आत्मा हूँ' - ऐसी श्रद्धा और स्थिरता जिस जीव ने की है, उसे उतनी ज्ञानधारा है और जितना राग शेष है, उतनी कर्मधारा है।

आत्मा के अवलम्बन से आनन्दधारा होती है; परन्तु साधक जीव को ज्ञानचेतना पूर्ण नहीं हुई है, अतः राग अभी भी शेष है। चौथे, पाँचवें, छठवें आदि गुणस्थानवर्ती जीवों को जितने गुणों के पर्यायों की अपूर्णता है, उतना मिश्रभाव है तथापि मुख्य तो श्रद्धाभाव ही है।

मैं शुद्ध चिदानन्दमूर्ति आत्मा हूँ, परद्रव्य के एक रजकण का भी मैं कर्ता-भोक्ता नहीं तथा रागादि का भी मैं कर्ता-भोक्ता नहीं - ऐसी श्रद्धा में ही यथार्थ आनन्द है। इस श्रद्धापूर्वक जबतक केवलज्ञान न हो, तबतक रागादि परिणाम होते हैं; किन्तु ये परिणाम गौण होने से मात्र ज्ञेयरूप वर्तते हैं। उन्हें व्यवहार कहकर ये मेरे स्वरूप में नहीं हैं - ऐसा कहा।

श्री नियमसार ग्रंथ की टीका में मुनिवर श्री पद्मप्रभमलधारिदेव कहते हैं कि 'मैं स्वर्ग में रहूँ, चाहे कहीं भी रहूँ; किन्तु हे प्रभु ! आपके चरण-कमल में ही रहूँ।' तात्पर्य यह है कि पुद्गल परावर्तन के नियमानुसार बाह्य में मेरी चाहे जो अवस्था हो, मैं स्वर्ग में रहूँ या अन्य जड़ के किसी भी संयोग में रहूँ; परन्तु मेरी भावना और भक्ति यह है कि मैं चिदानन्द आत्मा पर सदैव दृष्टि टिकाये रखूँ।

तथा नरक में रहूँ तो उससमय भी नरक का जो क्षेत्र, भव और

अल्पराग वर्तता है, उसकी रुचि न रहकर 'मैं चिदानन्दघनस्वभावी आत्मा हूँ' - ऐसी श्रद्धा ही कायम रहे।

यद्यपि मुनिराज को नरक पर्याय प्राप्त नहीं होती; फिर भी ऐसा कहकर संयोगदृष्टि को उड़ाया है। मैं संयोग में नहीं और संयोग मुझ में नहीं। मैं तो शुद्धस्वभावी आत्मा हूँ - ऐसी प्रतीतिपूर्वक स्वभाव की मुख्यता का ध्येय होने से संयोग और पर्याय में होने वाले रागादिभाव गौण वर्तते हैं, वे आदरणीय नहीं हैं।

हे नाथ ! संयोगादि की बात तो दूर ही है; परन्तु जो विकल्प उठते हैं, उन्हें भी मैं गौण समझता हूँ। मुझे उनका आदर नहीं है, एकमात्र स्वभाव का ही आदर है। इसी दशा को साधक की मिश्रदशा कहा है।

यदि किसी समय श्रद्धा में राग की मुख्यता हो और अखण्ड स्वभाव की मुख्यता न रहे तो जीव के मिश्रधर्म नहीं रहता और वह जीव मिथ्यादृष्टि हो जाता है; किन्तु पुरुषार्थ की कमजोरीवश धर्मी जीव को कदाचित् पुण्य-पाप के परिणाम हों तो वे उन्हें मुख्य नहीं करते; अपितु स्वभाव को ही मुख्य करते हैं।

'मैं अखण्ड चैतन्यस्वभावी हूँ' - ऐसी पूर्णदशा पर्याय में प्रकट नहीं हुई हो और अपूर्णदशा वर्त रही हो तो उसे मिश्रभाव कहते हैं। यहाँ आत्मा और कर्म की बात नहीं है; क्योंकि आत्मा और कर्म साथ-साथ होने पर भी उनके मिश्रपना नहीं है। कर्म तो जड़ हैं, पर हैं; उनके साथ आत्मा का मिश्रपना कदापि नहीं हो सकता।

चौथे से बारहवें गुणस्थान तक के समस्त जीव अन्तरात्मा हैं। जबतक सर्वज्ञदशा की प्राप्ति नहीं होती, तबतक अखण्डता अर्थात् परमात्मदशा प्रकट नहीं है। इससमय वहाँ अज्ञान नहीं; किन्तु अपूर्णज्ञान है; अतः बारहवें गुणस्थान में जितना क्षयोपशमरूप अल्पज्ञान है, उतनी कर्मचेतना है और ज्ञानचेतना पूर्ण नहीं हुई; इसलिये मिश्रधारा है।

आत्मा शुद्ध चैतन्यरूप है। निमित्त और विकार को गौण करके शुद्ध चैतन्य की प्रतीति होने पर पर्याय में दया-दानादि के परिणाम हुए बिना नहीं रहते। जहाँ तक राग और अल्पज्ञता है, वहाँ तक कार्य अधूरा है और जहाँ अन्तर-स्थिरतापूर्वक ज्ञान हुआ, वहाँ पूर्णता की ओर कार्य अग्रसर हुआ।

आत्मा अनन्तगुणों की सामर्थ्य से भरा है - ऐसी प्रतीति ही मुक्ति का कारण है; किन्तु रागादि परिणाम मुक्ति के कारण नहीं हैं।

जबतक ज्ञान, ज्ञान में पूर्णरूप से स्थिर नहीं हुआ और रागादि मलिन परिणामों में रुका हुआ है, तबतक मलिनता है, बंध है तथा 'मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा हूँ' - ऐसी प्रतीति और ज्ञान ही मुक्ति का कारण है।

आत्मा की यथार्थ प्रतीति में भव बाधा मिटाने की सामर्थ्य है, अतः 'मेरा आत्मा स्वभाव से परमात्मा है' - यह प्रतीति ही मुक्ति का कारण है। इस बीच दया-दानादिरूप शुभवृत्तियाँ आवें तो आवें, वे सब मलिनभाव हैं, उन्हें टालने की सामर्थ्य स्वयं श्रद्धा में है।

जबतक आत्मा स्वयं परमात्मा न हो, तबतक अल्पज्ञता और राग-द्वेषादि वर्तते हैं, वह कर्मधारा है तथा आत्मा का भान होने पर भी रागादि परिणाम और अल्पज्ञता टालने की ताकत मिश्रधारा में नहीं है।

यहाँ कोई कहे कि मिश्रधारा में ऐसी योग्यता क्यों नहीं है? क्या कर्मादि उसमें कारण हैं? तो उससे कहते हैं कि यहाँ कर्मादि कारण नहीं, बल्कि मिश्रधारा में स्वयं की ही वैसी योग्यता है।

धर्मी जीव की धर्मदशा शुद्ध चिदानन्द आत्मा की प्रतीति में है। पर्याय में पूर्ण निर्मलता प्रकट नहीं है, अतः जो अशुद्धता वर्तती है, उसे अन्तरात्मा टाल नहीं सकता। वहाँ पुरुषार्थ कमजोर है। यदि पुरुषार्थ

बढ़ जाये तो वीतरागता और सर्वज्ञता प्रकट हुए बिना नहीं रहती।

साधकजीव ने मैं चैतन्य-ज्योतिस्वरूप आत्मा हूँ, अन्य नहीं तथा इससमय अन्तर में उत्पन्न हो रहे रागादि परिणाम अपराध हैं, त्रिकाल-स्वरूप नहीं - ऐसा स्व-स्वरूप का पक्का निर्धारण किया है; फिर भी रागादि अभी शेष हैं।

'पर्याय में राग अथवा अल्पज्ञता नहीं है' - ऐसा कोई मिथ्याज्ञान करे तो उसका व्यवहार मिथ्या होने से वह मिथ्यादृष्टि है तथा राग और अल्पज्ञता को आदरणीय मानकर उससे निश्चय प्रकटेगा ऐसा कोई माने तो वह भी मिथ्यादृष्टि ही है। आत्मा का भान हुआ, वह निश्चय और जितने अंश में राग व अल्पज्ञता शेष है, उसे जानने का नाम व्यवहार है।

आचार्य कुन्दकुन्ददेव विरचित ग्रन्थाधिराज समयसार की १२वीं गाथा की टीका में आचार्य अमृतचन्द्रदेव कहते हैं कि "यदि निश्चयनय को छोड़ोगे तो तत्त्व का नाश हो जायेगा तथा व्यवहार को नहीं समझोगे अर्थात् किस भूमिका में कितना राग वर्तता है, उसका ज्ञान नहीं करोगे, तो तीर्थ का नाश होने से जीव मिथ्यादृष्टि हो जायेगा।

जो जीव अल्पज्ञता में सर्वज्ञता और राग में वीतरागता मानता है, उसने तीर्थ को छोड़ दिया है, व्यवहार को छोड़ दिया है।

व्यवहारनय को नहीं छोड़ने का अर्थ यह नहीं है कि शरीरादि परपदार्थों की क्रिया नहीं छोड़ना है। बाह्य परपदार्थ की तो बात यहाँ है ही नहीं; क्योंकि आत्मा परपदार्थ की क्रिया को न कर सकता है और न ही छोड़ सकता है।

वास्तव में जबतक यह आत्मा स्वरूप में पूर्ण स्थिर नहीं होता, तबतक राग-द्वेषादि परिणाम और अल्पज्ञता वर्तती है। चौथे, पाँचवें, छठवें गुणस्थानों में अथवा इस भूमिका में जो-जो रागादि परिणाम

वर्तते हैं, उन्हें व्यवहारनय जानता है। यदि उन्हें व्यवहारनय यथार्थ न जाने तो व्यवहार को नहीं माना - ऐसा कहा जाये।

‘मैं ज्ञायक हूँ’ ऐसी स्वरूप-श्रद्धा होनी चाहिए। वहाँ अनेकप्रकार के राग और ज्ञान में तारतम्यता होती है, वह व्यवहार है। पर्याय में जो कमजोरी है, राग है, वह व्यवहार है; तथापि वह आदरणीय नहीं है।

ग्यारहवीं गाथा में व्यवहार को अभूतार्थ कहा था, इसलिए बारहवीं गाथा में यह पुनः स्पष्ट किया कि व्यवहार अभूतार्थ होने पर भी जानने योग्य ही है। इसप्रकार पर्याय का ज्ञान करके स्वभाव में संसार नहीं है - ऐसी दृष्टिपूर्वक स्वरूप-लीनता करनी चाहिए।

पर्याय में पुरुषार्थ की कमजोरीवश अल्पज्ञता, अल्पदर्शन, अल्पशक्ति-आनन्द है - उसका यथार्थ ज्ञान करना, वह व्यवहार है।

मिश्रधारा में दो प्रकार वर्तते हैं। धर्मी जीव जानता है कि स्व-स्वरूप की जितनी श्रद्धा, ज्ञान और एकाग्रता हुई, वह निश्चय है और जितना राग वर्तता है अथवा ज्ञान-दर्शन की हीनता अर्थात् ज्ञान-दर्शन का अनन्तवाँ भाग वर्तता है, वह व्यवहार है।

अज्ञानी मानता है कि बाह्य परपदार्थों को छोड़ना व्यवहार है; किन्तु ऐसा माननेवाला मूढ़ है। आत्मा बाह्य पर पदार्थों को न छोड़ सकता है और न ग्रहण कर सकता है। आत्मा त्रिकाल परपदार्थों से भिन्न है। राग-द्वेष आत्मा का स्वरूप ही नहीं है - ऐसी श्रद्धापूर्वक रागादि परिणामों का ज्ञान होता है।

पर्याय में चारित्र न होने पर भी चारित्र मान लेना भूल है। स्वभाव के अवलम्बन से शान्ति बढ़े और रागादि घटे, तब चारित्र होता है। मात्र अट्ठाईस मूलगुण के विकल्प को चारित्र नहीं कहते। यथार्थ चारित्र भी आत्मा के भानवाले को ही होता है।

ज्ञानी को जड़ पदार्थ की पर्याय ऐसी ही हो - ऐसा आग्रह नहीं है

और राग का भी आग्रह नहीं है; क्योंकि राग किसी भी प्रकार का हो, उसे ज्ञान जानता ही है।

मैं शुद्ध-चैतन्य पूर्णानन्द हूँ, असंख्यातप्रदेशी हूँ। जीव शरीरप्रमाण क्षेत्रवाला परिमित है, तथापि जीव का स्वभाव अपरिमित है - ऐसे स्वभाव का भान करके जिसने स्वरूप का यथार्थ निर्णय किया है, उसे भी रागादि परिणाम हैं। केवलज्ञानरूप पूर्णदशा नहीं है - ऐसा जानना।

जो राग उत्पन्न होता है, वह भी भूमिकानुसार अपने स्वकाल में ही आता है। वे परिणाम अपने ही काल-क्रम में होते हैं, उन्हें जानना व्यवहार है और अखण्ड स्वभाव को जानना निश्चय है; किन्तु दोनों ही में व्यवहार आदरणीय नहीं, अपितु निश्चय आदरणीय है - ऐसा जानना।

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने समयसार की टीका में स्पष्ट किया है कि अपने स्वकाल में जाना हुआ व्यवहारनय प्रयोजनवान है। वहाँ चौथे गुणस्थान वाले को दर्शन (श्रद्धा) का क्षयोपशमभाव वर्तता हो तो उसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व जानना और क्षायिकभाव वर्तता हो तो क्षायिक सम्यक्त्व है, इतना विशेष जानना।

आत्मा का भान होने पर जिस दशा तक राग और अल्पज्ञता विद्यमान है, उस दशा को मिश्रदशा कहते हैं। जो पर्याय जैसी है, वैसी जानना चाहिए। पर्याय अल्प व्यक्त हो तो उसे अधिक व्यक्त नहीं मानना और अधिक व्यक्तता न हो तो खेद करने की भी जरूरत नहीं।

श्री मोक्षमार्गप्रकाशक में कहा है कि “व्यवहारनय स्वद्रव्य-परद्रव्य को, उनके भावों को व कारण-कार्यादिक को किसी को किसी में मिलाकर निरूपण करता है, सो ऐसे ही श्रद्धान से मिथ्यात्व होता है; इसलिये उसका त्याग करना तथा निश्चयनय उन्हीं को यथावत् निरूपण करता है, किसी को किसी में नहीं मिलाता है; सो ऐसे ही श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है; इसलिये उसका श्रद्धान करना।”

यहाँ प्रश्न है कि यदि ऐसा है तो जिनमार्ग में दोनों नयों का ग्रहण करना कहा है, सो कैसे ?

समाधान :- जिनमार्ग में कहीं तो निश्चयनय की मुख्यता लिये व्याख्यान है, उसे तो 'सत्यार्थ ऐसा ही है' - ऐसा जानना तथा कहीं व्यवहारनय की मुख्यता लिये व्याख्यान है, उसे 'ऐसा है नहीं, निमित्तादि की अपेक्षा उपचार किया है' - ऐसा जानना। इसप्रकार जानने का नाम ही दोनों नयों का ग्रहण है तथा दोनों नयों के व्याख्यान को समान सत्यार्थ जानकर "ऐसा भी है और ऐसा भी है" - इसप्रकार भ्रमरूप प्रवर्तने से तो दोनों नयों का ग्रहण करना नहीं कहा है।^१

शक्ति-अपेक्षा सभी जीव परमात्मा ही हैं। निगोद की पर्याय में परमात्मदशा प्रकट नहीं है, वहाँ पर्याय बहुत हीन है। जैसे तिल में तेल शक्तिरूप से व्याप्त है, प्रकटरूप नहीं। तेल प्रकट करे तो दिखाई देता है। कोई तिल को तेल मानकर उसमें पूड़ी तलना चाहे तो आटा और तिल दोनों ही बिगड़ते हैं।

उसीप्रकार आत्मा में परमात्मपना शक्तिरूप व्याप्त है, वैसा न मानकर कोई पर्याय में ही परमात्मपना माने तो जीव चार गतियों में ही परिभ्रमण करता है। आत्मा की प्रतीति और लीनतापूर्वक जबतक परमात्मदशा प्रकट न हो, तबतक पर्याय में परमात्मपना नहीं मानना चाहिए।

शक्तिरूप से 'मैं परमात्मा हूँ' - ऐसा न माने तो पर्याय में भी निर्मल परमात्मपना प्रकट नहीं हो सकता, इसलिए यह आत्मा शक्ति-अपेक्षा केवलज्ञानरूप है और पर्याय अपेक्षा पामर है - ऐसा जानना चाहिए।

आत्मवस्तु की यथार्थ श्रद्धापूर्वक उसमें लीनता करना उपादेय है; किन्तु 'यह उपादेय है' - ऐसा विकल्प उपादेय नहीं है, अतः जितने अंश

में राग व अल्पज्ञता टलती जाती है, उसे हेय कहा। हेय का ज्ञान व्यवहारनय का विषय है और उपादेय का ज्ञान निश्चयनय का विषय है।

जिसे विश्वास हुआ कि 'मैं शुद्ध चिदानन्द आत्मा हूँ', उसकी प्रतीति को फेरफार करने अथवा बदलने में अब कोई समर्थ नहीं है। उसे ही क्षायिक समकिति कहते हैं।

वह क्षायिक सम्यक्त्व श्रुतकेवली, केवली भगवान अथवा तीर्थङ्कर के पादमूल में ही होता है। धर्मी जीव बाह्य संसार में मग्न होने पर भी उन्हें चैतन्य-ज्योति का भरोसा है, उन्हें डिगाने में कोई समर्थ नहीं है। वह स्वयं श्रद्धा से विचलित नहीं होता।

मेरी आत्मवस्तु अखण्ड आनन्दकन्द है - ऐसी प्रतीति को ही क्षायिक सम्यक्त्व कहते हैं। वहाँ उपादानस्वरूप पर्याय में निर्मलता प्रकट हुई और निमित्तरूप कर्म का अभाव रहा।

प्रश्न :- यदि कोई आत्मा की पूर्ण प्रतीतिपूर्वक यह निर्णय करे कि मुझे पूर्णता ही प्राप्त करना है तो उस जीव के सम्यक्त्व पूर्ण प्रकट है या अपूर्ण ? तथा यदि सम्यक्भाव पूर्ण प्रकट है - ऐसा कोई कहे तो उसे सिद्ध हो जाना चाहिए; क्योंकि एक गुण के पूर्ण सम्यक् होने से अन्य समस्त गुण भी पूर्ण सम्यक् हो जायें और सिद्ध दशा प्रकटे ?

प्रश्न का ही स्पष्टिकरण :- आत्मा के सभी गुण पूर्ण प्रकट नहीं हैं, अतः शिष्य का प्रश्न है कि आत्मा में एक विभुत्वशक्ति है, जिसकारण एक गुण सम्पूर्ण आत्मा में व्याप्त होकर रह सकता है, अतः एक सम्यक्त्व गुण के पूर्ण निर्मल होने से सभी गुण पूर्ण निर्मल हो जाना चाहिए।

समाधान :- आत्मा आनन्द का पिण्ड है - ऐसी जिसे क्षायिक प्रतीति हुई, उसे सम्यक्गुण (सम्यक्त्व) पूर्ण हो गया, अतः सभी गुण पूर्ण हो जाने चाहिए; क्योंकि सम्यक्गुण सम्पूर्ण आत्मा में व्यापक है, इसलिए श्रद्धागुण की दशा पूर्ण निर्मल हो जाने से सभी गुण पूर्ण निर्मल

हो जाने चाहिए; किन्तु क्षायिक सम्यक्त्व होने पर भी अभी परमसम्यक्त्व (परमावगाढ़ सम्यक्त्व) नहीं हुआ है। अतः सभी गुण पूर्ण शुद्ध निर्मल पर्यायरूप से प्रकट नहीं हुए हैं।

भरत चक्रवर्ती को घर में ही वैरागी कहा, उसका अर्थ यह नहीं कि उनको घर में ही मुनिपना था। उन्हें क्षायिक सम्यक्त्व था; परन्तु उनके भी सभी गुण पूर्णतः निर्मल नहीं हुए थे।

शिष्य का प्रश्न है कि एक गुण पूर्ण निर्मल होने पर सभी गुण पूर्ण निर्मल हो जाने चाहिए; परन्तु ऐसा नहीं है। श्रेणिक राजा को क्षायिक सम्यक्त्व है, वे नरक से निकलकर आगामी चौबीसी के प्रथम तीर्थङ्कर होंगे; किन्तु उनके भी सभी गुण पूर्ण निर्मल नहीं हैं।

क्षायिक समकित होने मात्र से सभी गुण पूर्ण निर्मल नहीं होते, आंशिक ही निर्मल होते हैं, यह सब समझ लेना चाहिए। समझ बिना धर्म नहीं होता। इसीकारण मिश्रधारा कहने में आती है।

आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है - ऐसी प्रतीति और अनुभव ही धर्म है। जिससमय आत्मा में ऐसा अनुभव प्रकट होता है, उससमय पूर्ण अनुभव नहीं होता; बल्कि पूर्ण अनुभव तो केवलज्ञान में ही होता है।

चौथे गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक जितनी शुद्धदशा प्रकट हुई, उतना धर्म है और जितनी विकारीदशा है, उतना अधर्म है। इसप्रकार जहाँ तक पूर्णदशा न हो, वहाँ तक धर्म-अधर्मरूप दोनों भाव रहते हैं। इसे ही जीव की मिश्रदशा कहते हैं।

प्रश्न :- क्षायिक सम्यग्दर्शन के काल में श्रद्धा गुण की क्षायिक पर्याय पूर्ण शुद्ध है या नहीं? यदि वह पूर्ण शुद्ध है तो उसे सिद्ध कहना चाहिए; क्योंकि एक गुण सभी गुणों में व्यापक है, इस अपेक्षा से क्षायिक सम्यक्त्वी के मिश्रपना सिद्ध नहीं होता तथा यदि उसे किंचित् शुद्ध कहें तो सम्यक्त्व गुण का घातक मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबंधी

कर्म उसके होना चाहिए; किन्तु क्षायिक सम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबंधी कर्म का निमित्त तो होता नहीं, अतः उसका सम्यक्गुण पूर्ण शुद्ध है या अपूर्ण?

समाधान :- इसका स्पष्टीकरण यह है कि सम्यक्गुण वहाँ पूर्ण भी है और अपूर्ण भी है - यह विवक्षानुसार समझना पड़ेगा।

क्षायिक सम्यक्त्वी के मिथ्यात्वरूप आवरण तो नहीं है; परन्तु आवरण मात्र के जाने से सभी गुण सर्वथा सम्यक् नहीं होते, इसकारण अभी परम-सम्यक्पना नहीं है। क्षायिक सम्यक्त्व होने पर अन्य गुण तो परम-सम्यक् हैं ही नहीं; किन्तु जो क्षायिक सम्यक्त्व प्रकट हुआ है, वह भी परम-सम्यक् (परमावगाढ़) नहीं है।

यद्यपि क्षायिक सम्यक्त्वरूप पर्याय में अशुद्धता या अपूर्णता नहीं रही; किन्तु अन्य गुण सर्वथा शुद्ध नहीं होने से क्षायिक को भी परम-सम्यक्पना (परमावगाढ़) नहीं कहा जा सकता। जब सभी गुण साक्षात् सर्वथा शुद्ध/सम्यक् रूप हो जायें, तब परम (परमावगाढ़) सम्यक्त्व ऐसा नाम पाते हैं। इसप्रकार विवक्षा प्रमाण से कथन प्रमाण होता है।

क्षायिक सम्यक्त्व के परमसम्यक्त्वपना (परमावगाढ़सम्यक्त्वपना) नहीं होने से क्षायिक सम्यग्दर्शन में कोई मलिनता, अशुद्धता या कमी है - ऐसा नहीं; बल्कि क्षायिक सम्यग्दर्शन तो अपनी योग्यतानुसार निर्मल ही है तथा कोई ऐसा माने कि आगे के गुणस्थान होने पर वह विशेष निर्मल होता हो तो ऐसा भी नहीं है; क्योंकि उसमें कोई अशुद्धता शेष ही नहीं है, जो शुद्धता बढ़े; परन्तु अन्य गुण पूर्ण शुद्ध नहीं हुए। इसीकारण वह परम (परमावगाढ़) सम्यक्त्व नाम नहीं पाता - ऐसा कहा है।

किसी को सम्यग्दर्शन होने के अन्तर्मुहूर्त पश्चात् ही केवलज्ञान प्रकट होता है और किसी को सम्यग्दर्शन होने के लाखों-करोड़ों वर्षों तक भी पाँचवें गुणस्थान की दशा तक नहीं आती, क्योंकि क्षायिक

सम्यग्दर्शन होने मात्र से सभी गुण तत्काल शुद्ध नहीं होते। द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव देखकर सम्यग्दृष्टि को शक्ति अनुसार तप-त्याग भाव होता है - ऐसा वीतराग का मार्ग है।

क्षायिक सम्यग्दर्शन में किसी प्रकार का आवरण नहीं है; अतः वह पूर्ण निर्मल है, तथापि चारित्र पूर्ण निर्मल नहीं होने से परम (परमावगाढ़) सम्यक्त्वपना नहीं है।

धर्मी अपने परिणामों को देखकर प्रतिज्ञा लेता है; परन्तु हठपूर्वक प्रतिज्ञा लेना वीतराग का मार्ग नहीं है। सम्यग्दृष्टि समझता है कि मेरे परिणामों में शिथिलता है, राग है। अतः अन्तर में परिणामों की ऐसी दृढ़ता आये कि प्राण छूट जायें पर प्रतिज्ञा भंग न हो।

श्रद्धा गुण में क्षायिक सम्यग्दर्शन होने पर कोई कमी नहीं रही, तथापि वहाँ सभी गुण पूर्ण निर्मल नहीं हुए हैं, अतः मिश्रधर्म है।

बारहवें गुणस्थान तक यही दशा रहती है, इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वहाँ धर्म की पूर्णता नहीं है। सम्यग्दर्शन तो पूर्ण है, परन्तु अन्य गुण पूर्ण निर्मल नहीं हुए हैं; अतः यहाँ मिश्रधर्म है।

आत्मा में उत्पन्न विभावभावों को ज्ञानी अपने कारण से होना मानता है और अज्ञानी वे विभावभाव निमित्त से होते हैं - ऐसा मानकर स्वच्छन्दी होता है, इसकारण उसके मिथ्यात्व का नाश नहीं होता। विभावभाव आत्मा में अपने कारण से उत्पन्न होते हैं - ऐसा मानकर कोई विभावभाव को ही अपना माने तो वह भी मिथ्यादृष्टि है।

विभावभाव पर्याय में अपने कारण से होते हैं, कर्म के कारण नहीं, परन्तु वह मेरा स्वभाव नहीं है - ऐसा मानते हुए ज्ञानी उनके नाश का पुरुषार्थ करता है।

पाण्डे राजमल्लजी कृत समयसार कलश टीका में कहा है कि -

“जो जीव आत्मा में रागादिभाव कर्म के कारण उत्पन्न होते हैं - ऐसा मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है, अनन्त संसारी है।”

क्षायिक सम्यग्दृष्टि के भी रागादि परिणति चारित्र मोहनीय कर्म की प्रबलता के कारण नहीं है तथा चारित्र पूर्ण नहीं है; अतः सम्यक्त्व गुण में कोई कमी है - ऐसा भी नहीं। चेतन-अचेतन की भिन्न प्रतीति से सम्यक्त्व गुण स्वयं निज जातिरूप होकर परिणमा है अर्थात् मैं ज्ञायकमूर्ति चेतन आत्मा हूँ, मैं अचेतन नहीं - इसप्रकार ज्ञान स्वयं अपनी जातिरूप होकर परिणमा है।

अनन्त शक्ति से युक्त यह आत्मा विकाररूप हो रहा था; किन्तु अब ज्ञान गुण की अनन्तशक्ति में से कुछ शक्ति प्रकट हुई, जिसे मति-श्रुतज्ञान कहते हैं। आत्मा का लक्षण ज्ञान है। वह ज्ञानशक्ति परद्रव्य के कारण विकाररूप हो रही थी; किन्तु स्वद्रव्य के अवलम्बन से सामान्यतः उस ज्ञान की मति-श्रुत पर्याय को सम्यक् कहा जाता है।

वह ज्ञान जाति अपेक्षा सम्यक् हुआ; तथापि जघन्य है, पूर्ण निर्मल नहीं। यद्यपि स्वसंवेदन ज्ञान को भावश्रुतज्ञान कहते हैं; किन्तु अभी ज्ञान में पूर्णता प्रकट नहीं हुई। इसकारण उसे अज्ञानपना कहा जाता है अर्थात् यहाँ ज्ञानावरण कर्म के उदय के कारण औदयिक अज्ञान - अपूर्णता है, अतः उसे विकाररूप कहकर अज्ञानभाव कहा है।

जिससमय धर्म होता है, उससमय अधर्म भी होता है। यदि आंशिक धर्म प्रगट होते ही धर्म की पूर्णता माने, तो उस जीव ने साधकदशा और मिश्रधर्म को समझा ही नहीं है।

अभी ज्ञान में पूर्णदशा नहीं है, अल्पज्ञता है; उसे विकार कहते हैं। यहाँ आवरणरूप कर्म की बात नहीं है; क्योंकि वह तो जड़ है, परन्तु आत्मा की पूर्ण पर्याय प्रकट होने में जितनी कमी - हीनता है, उसको

कर्मधारा कहते हैं।

यहाँ शुभाशुभ रागादि भावरूप कर्मधारा अपने कारण है और अन्तर में जितनी ज्ञान-शक्ति निर्मल हुई है, उतनी ज्ञानधारा स्वयं अपने कारण से है - इसप्रकार इन दोनों धाराओं को मिश्रधारा कहा है।

ज्ञान में जितनी कमी है, वह ज्ञानशक्ति (केवलज्ञान) पूर्ण रूप से प्रकट नहीं हुई, इसलिए है, कर्मादि के कारण नहीं। क्षायिक सम्यग्दर्शन है; परन्तु केवलज्ञान नहीं है - यही दो धाराओं को सिद्ध करता है। इसप्रकार ज्ञान और सम्यग्दर्शन को रखकर बात की है।

ज्ञानगुण का स्वरूप कहने के पश्चात् अब जीव की दर्शनशक्ति भी अदर्शनरूप है, उसका स्वरूप कहते हैं।

यहाँ सामान्य उपयोगरूप दर्शनशक्ति की बात है, सम्यग्दर्शन की बात नहीं; क्योंकि क्षायिक सम्यग्दर्शन में तो पूर्ण निर्मलदशा है। उससमय सामान्य उपयोगरूप दर्शनशक्ति पूर्ण नहीं और पूर्ण निर्मल भी नहीं; अतः जितनी अपूर्णता है, उतनी अदर्शनरूप ही है।

इसीप्रकार चारित्रगुण की कुछ शक्ति चारित्ररूप है तथा कुछ शक्ति विकाररूप है। वहाँ चारित्रगुण की विकाररूप पर्याय अपने कारण से है, कर्म के कारण नहीं; इसलिये वहाँ भी मिश्रदशारूप ही धर्म है।

भेदज्ञानपूर्वक आत्मा में स्व के अवलम्बन से जो धर्म प्रकट होता है, वही अनुभवप्रकाश है। उससमय चारित्रगुण की मिश्रदशा होने के कारण आंशिक निर्मलता और आंशिक मलिनता है; किन्तु वह मलिनता कर्म के कारण नहीं है।

जिसको 'मैं निमित्तादिक से भिन्न हूँ', 'मैं विकल्पादि से रहित हूँ' - ऐसा भान नहीं तथा आत्मज्ञान होने पर भी पूर्णदशा प्रकट नहीं हुई है, उसके ज्ञान, चारित्र आदि गुणों की शक्ति अप्रकटरूप हैं। यद्यपि श्रद्धागुण

पूर्ण प्रकट है, किन्तु अन्य गुण पूर्ण नहीं होने से मिश्रभाव है।

आत्मा के जितने गुण निर्मल हुए हैं, उतने शुद्ध हैं और जितना विकार जिन-जिन गुणों में है, उतनी अशुद्धता है; सम्यग्दर्शन होने पर भी अनुभव पूर्ण नहीं होता। यद्यपि निचलीदशा में मिश्रभावरूप धर्म है, तथापि प्रतीतिरूप धर्म में श्रद्धाभाव ही सर्वशुद्ध है।

आत्मा को निमित्त और रागादि से पृथक् करके स्वभाव में एकत्वरूप श्रद्धाभाव हुआ है; परन्तु अन्य गुणों की जितनी अपूर्णता है, उतनी कचास है। यह भाव आवरण ही मिश्रधर्म है।

इसमें स्व-संवेदन है, परन्तु प्रत्यक्ष-संवेदन नहीं। आत्मा का अनुभव तो है, परन्तु पर्याय को प्रत्यक्ष जाने - ऐसा पूर्ण ज्ञान नहीं। जब वह ज्ञान सर्वथा आवरण रहित होवे, तब सर्वप्रत्यक्ष होता है और सर्व कर्म अंश के दूर होते ही वह शुद्ध होता है।

वहाँ अघातिकर्म विद्यमान होने पर भी केवलज्ञान शुद्ध है; क्योंकि घातिकर्म के नाश से वे सकल परमात्मा हुए हैं, उन्हें सर्व प्रत्यक्षज्ञान प्रकट हुआ है, अब वहाँ मिश्रभाव नहीं है।

जो सम्यग्दृष्टि दो घड़ी में केवलज्ञान प्रकट करता है, उसे भी अन्तर्मुहूर्त तक मिश्रभाव अवश्य ही रहता है और जब वह उसका नाश करता है, तब ही उसके सकल परमात्मपना प्रकट होता है। वहाँ सकल परमात्मा अर्थात् शरीरसहित परमात्मा अरहंत भगवान हैं तथा निकल परमात्मा सिद्ध भगवान हैं।

प्रश्न :- अन्तरात्मा के ज्ञानधारा और रागधारा दोनों ही हैं - ऐसा जो कहा, इसमें प्रश्न यह है कि बारहवें गुणस्थान में दो धारायें हैं या मात्र एक ज्ञानधारा ही है ? यदि अकेली ज्ञानधारा ही है तो उसे अन्तरात्मा मत कहो तथा यदि दोनों धारायें हैं - ऐसा कहें तो बारहवें गुणस्थान में

मोह क्षय हुआ है, तब कर्मधारा कहाँ रही ? अर्थात् बारहवें गुणस्थान में वीतरागदशा हो गयी है, अब वहाँ अधूरापन कैसे रहा?

समाधान :- बारहवें गुणस्थान में ज्ञानावरणरूप आवरण अभी भी विद्यमान है, इसकारण वह जीव अन्तरात्मा है। अज्ञानभाव बारहवें गुणस्थान तक होने से वहाँ अन्तरात्मपना भी है और मिश्रभाव भी है। कोई भी जीव प्रत्यक्ष ज्ञान के बिना परमात्मा नहीं कहा जाता।

बारहवें गुणस्थान में कषायभाव का नाश होने पर भी ज्ञान की पूर्णता नहीं हुई है; अतः अज्ञानपना अर्थात् मिश्रदशा कही जाती है।

प्रश्न :- वहाँ अज्ञान कैसा है ?

समाधान :- (१) केवलज्ञान के बिना सकल द्रव्यों की सकल पर्याय भासित नहीं होती, यही अज्ञान है। (२) निज का प्रत्यक्षज्ञान भी नहीं है; अतः अज्ञान ही है अर्थात् अपने गुण-पर्याय प्रत्यक्ष भासित नहीं होते, इसलिये अज्ञान कहा जाता है (३) और सर्व द्रव्य प्रत्यक्ष नहीं हैं, इसकारण भी अज्ञान है।

यहाँ विपरीत ज्ञान को अज्ञान नहीं कहा, अपितु सकल प्रत्यक्षज्ञान नहीं है - इस अपेक्षा अज्ञान कहा है।

साधक अवस्था में थोड़ी निर्मलता और थोड़ी मलिनता रहती ही हैं। यदि ऐसा न हो तो सम्यग्दर्शन होते ही केवलज्ञान हो जाये; किन्तु पर्याय का क्रम ऐसा ही है, अतः सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् कम से कम एक अन्तर्मुहूर्त तक तो मिश्रदशा रहती ही है।

इसप्रकार गुरुदेवश्री द्वारा मिश्रधर्म पर हुये प्रवचन यहाँ पूर्ण हुये।

उक्त सम्पूर्ण कथन का सारांश यह है कि साधक जीव के जीवन में स्वरूप-श्रद्धान तो पूर्णतः सम्यक् है, तथापि उनके जीवन में शुद्धरूप ज्ञानधारा और शुभाशुभरूप कर्मधारा - ये दोनों धारायें एक साथ एक

समय में विद्यमान हैं।

इन दो धाराओं के एक साथ रहने में किसीप्रकार की कोई बाधा नहीं है; किन्तु जितना अंश ज्ञानरूप है वह संवर-निर्जरा का कारण है और जितना अंश रागरूप है, वह बंध का कारण है, यह विशेष जानना।

अतः एक समय की शुद्ध ज्ञानपर्याय का आश्रय लेकर द्रव्यदृष्टिपूर्वक अपने ज्ञानानन्दस्वरूप निजात्मा के प्राप्ति के लिये उसका श्रद्धान-ज्ञान और उसी में लीनता करना चाहिये; क्योंकि इसी का नाम सम्यग्दर्शन-

सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्र है। यही मोक्षमार्ग और मोक्ष है।

त्रिकाल शुद्ध
इसप्रकार हम सभी चैतन्य के गुणों में कलित कर समाहित हो जायेंगे कि है जीवने में द्रव्यकोषी खनिजों से सिंघाणी होते हैं, और जिनके भी के कत्रिमप्रतिहिनेर अमरसंर हौ, त्रिकाली भाषण है ॥ आत्मा का अन्तरंग सम्पूर्ण शुद्ध है। अन्तरंग अर्थात् त्रिकाल रहनेवाले अनन्त गुण तो सदा शुद्ध ही हैं।

जिसप्रकार राजहंस सरोवर के कमलपुष्पों में केलि करता है; उसीप्रकार यह चैतन्यतत्त्व ज्ञानसरोवर के शान्तभाव और जितेन्द्रियतारूपी कमलों में सदैव केलि करनेवाला है। तीनों काल आनन्दादि अनुपम गुणोंवाला चैतन्यचमत्कार की मूर्ति है।

आचार्यदेव कहते हैं कि ऐसे स्वभाव की दृष्टि कर और पर्याय में विकार होने पर भी उसकी दृष्टि छोड़। त्रिकाली एकरूप स्वभाव में केलि करनेवाले ऐसे आत्मा को मोह का अभाव होने से यह समस्त परद्रव्य व परभाव को ग्रहण नहीं करता अर्थात् वह स्वभाव से अविकृत ही रहता है। विकारी भावों का ग्रहण नहीं करता। त्रिकाली स्वभाव में तो विकार का ग्रहण है ही नहीं और उस स्वभाव का आश्रय करनेवाली पर्याय में भी विकार का संवर हो जाता है।

- आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजी

स्वामी

ज्ञानधारा-कर्मधारा को पोषक

आ. सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी के हृदयोद्गार

* अध्यात्म संदेश से -

यदि कोई ऐसा माने कि विषय-कषाय के भाव जरा भी हों, वहाँ सम्यग्ज्ञान हो ही नहीं सकता तो वह ठीक नहीं है अथवा विषय-कषायों के परिणाम सर्वथा छूटकर वीतराग हो जायें, तब ही सम्यग्ज्ञान हो सके - ऐसा कोई कहे तो वह भी ठीक नहीं है।

हाँ, इतना अवश्य है कि ज्ञानी को विषय-कषाय का रस अन्तर में से सर्वथा हट जाता है, उनमें कहीं अंशमात्र भी आत्मा का हित या सुख लगता नहीं; अतएव वह स्वच्छंदता से कभी भी वर्तन नहीं वर्तता। वह 'सदननिवासी तदपि उदासी' होता है।

इसप्रकार धर्मी को सम्यग्ज्ञान के साथ-साथ शुभ-अशुभ परिणाम तो रहते हैं; परन्तु इससे उसके सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान दूषित नहीं हो जाते। ज्ञान परिणाम अलग है और शुभाशुभ परिणाम अलग हैं, दोनों की धारा अलग-अलग हैं। विकल्प एवं ज्ञान की भिन्नता का भान उसको विकल्प के समय भी बना रहता है। उपयोग भले ही पर को जानने में वर्त रहा हो; इससे कहीं उसके श्रद्धा या ज्ञान मिथ्या नहीं हो जाते। इसप्रकार धर्मी को सविकल्पदशा के समय भी सम्यक्त्व की धारा जैसी की तैसी बनी ही रहती है। सविकल्पदशा में अर्थात् उपयोग जब कहीं अन्यत्र हो, तब भी सम्यक्त्व वर्तता है।

● सम्यग्दृष्टि की अंतरंग दशा -

शुभाशुभपरिणाम के समय में भी धर्मात्मा को शुद्धात्मश्रद्धानरूप

निश्चयसम्यक्त्व रहता है - यह बात यहाँ दृष्टान्त देकर समझायी है। श्रद्धा में तो कोई सविकल्प या निर्विकल्प - ऐसा भेद नहीं है। अशुभरागरूप सविकल्पदशा हो या शुभरागरूप सविकल्पदशा, सम्यक्त्व तो इन दोनों से पार शुद्धात्मा के श्रद्धानरूप ही वर्तता है।

सम्यग्दृष्टि को स्वानुभव में उपयोग हो या बाहर के शुभ-अशुभ में उपयोग घूमता हो, परन्तु दोनों ही वक्त उसके सम्यग्दर्शन तो एक ही प्रकार वर्तता है। फिर भी इससे ऐसा नहीं समझ लेना चाहिए कि सम्यग्दृष्टि अपने उपयोग को चाहे जैसे बाहर में भ्रमाते रहते होंगे।

उसने स्वानुभव में जिस आनन्द का स्वाद चखा है, उसी में बार-बार प्रयत्न भी करता है; क्योंकि श्रद्धा वैसी की वैसी रहने पर भी स्वानुभवरूप उपयोग के समय निर्विकल्पदशा में अतीन्द्रिय आनन्द का जो विशेष वेदन होता है, वैसा सविकल्पदशा में नहीं होता; परन्तु जब ऐसी निर्विकल्पदशा नहीं रहती, तब शुभ वा अशुभ में भी धर्मी का उपयोग लगता है, तो भी ऐसा नहीं है कि जब अशुभ में उपयोग लगे, तब सम्यक्त्व में कुछ मलिनता हो जाये।

इन्द्रिय की ओर उपयोग लगा हो, उस समय का सम्यक्त्व जुदा तथा अतीन्द्रिय उपयोग हो, उस समय का सम्यक्त्व जुदा - ऐसे भी दो भेद सम्यग्दर्शन में नहीं हैं। प्रत्यक्ष-परोक्ष ऐसे भेद भी उपयोग में हैं; सम्यग्दर्शन में नहीं; सम्यग्दर्शन तो शुद्धात्मा के श्रद्धानरूप ही है।

शुभ-अशुभ के समय भी उस श्रद्धान का सातत्यपना समझाने को यहाँ साहूकार अर्थात् प्रामाणिक गुमाश्ते का दृष्टान्त दिया है।

जैसे प्रामाणिक मुनीम अपने सेठ के सभी कार्यों को मानो अपने ही कार्य हों - ऐसे करता है, व्यापार में लाभ-नुकसान होने पर हर्ष-खेद भी करता है; यह हमारी दुकान, यह हमारा माल - ऐसा भी कहता है; इसप्रकार सेठ के कार्य में परिणाम लगाने पर भी भीतर में वह समझता

है कि इसमें मेरा कुछ नहीं है, यह तो सब परकीय (सेठ का) है।

उसीप्रकार धर्मात्मा जीव भी राग की भूमिका के अनुसार विषय-कषाय, क्रोध-मान, व्यापार-धन्धा, रसोई आदि अशुभ प्रवृत्ति या पूजन-भक्ति, दया-दान, यात्रा-स्वाध्याय, साधर्मिप्रेम आदि शुभप्रवृत्ति में उपयोग को लगाता है; परन्तु उपरोक्त गुमाश्ता की तरह वह समझता है कि ये देहादिक के कार्य या रागादिक भाव सचमुच में मेरे नहीं हैं, वह चीज मेरे स्वरूप की ही नहीं है। उन रागादि के समय आत्मा उनमें तद्रूप होकर परिणमा है अर्थात् आत्मा का ही वह परिणमन है; परन्तु शुद्धस्वभाव स्वयं उस रागरूप नहीं हो गया।

यदि ऐसा शुद्धात्मा का श्रद्धान न रखे और रागादि को या देहादि की क्रिया को सचमुच में अपना ही स्वरूप मान ले तो वह जीव मिथ्यादृष्टि है। जैसे गुमाश्ता यदि सेठ की वस्तु को सचमुच में अपनी ही समझ के अपने घर उठा ले जाये; तब वह प्रामाणिक नहीं, अपितु चोर कहलायेगा।

वैसे परकीय ऐसी देहादि क्रिया को या रागादि परभावों को जो वास्तव में अपना मानकर उसे अपना ही स्वरूप समझ ले, वह जीव मिथ्यादृष्टि है। 'यह मेरा नहीं है, यह सेठ का है' - ऐसा गुमाश्ता को प्रतिसमय घोखना (रटना) नहीं पड़ता, प्रत्येक कार्य के समय सदैव उसको यह प्रतीति भीतर में रहा ही करती है; उसीप्रकार 'यह शरीर मेरा नहीं, यह राग मेरा नहीं, मैं शुद्धात्मा हूँ' - ऐसा धर्मी को हर समय घोखना नहीं पड़ता। हरेक क्षण - शुभाशुभ के समय में भी उसे समस्त परद्रव्यों व समस्त परभावों से भिन्न शुद्धात्मा की जो प्रतीति हुई है, वह बनी ही रहती है।

देखो, यह सम्यग्दृष्टि की अन्तरंग दशा ! सम्यक्त्व की कितनी अच्छी चर्चा की है। अहा, धन्य है उन साधर्मियों को जो स्वानुभव की

ऐसी चर्चा करते हैं ! स्व-पर का यथार्थ भेद-ज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान, भूतार्थ का आश्रय, शुद्धनय, शुद्धात्मश्रद्धान या निश्चय-सम्यक्त्व सभी में एक ही भाव है। ऐसी दशा प्रकट किये बिना जीव भले जैनधर्म के ही देव-गुरु-शास्त्र को मानता हो और अन्य कुदेवादि को न मानता हो तो भी उसे सम्यक्त्वी नहीं कहा जाता, धर्मी नहीं कहा जाता।

स्व-पर के यथार्थ भेदज्ञानपूर्वक तत्त्वार्थश्रद्धान करके स्वानुभव सहित शुद्धात्मश्रद्धान करना, वही सम्यक्त्व है, वही मोक्षमार्ग का पहला रत्न है और वही पहला धर्म है। प्रसन्नता के साथ आत्मा की प्रीतिपूर्वक ऐसे सम्यक्त्वादि की बात जो उत्साह से सुनें, वे भी बहुत भाग्यशाली हैं, इसमें उत्कृष्ट जाति का पुण्य बँध जाता है और यह बात समझकर जो भीतर में परिणमन करें, वे अपूर्व कल्याण को पाते हैं और अवश्यमेव अल्पकाल में मोक्ष भी पाते हैं। ऐसे अध्यात्म के रसीले जीव सदैव विरले ही होते हैं।

सम्यग्दृष्टि के स्वरूप की पहिचान भी संसार को दुर्लभ है। सम्यग्दृष्टि ने शुद्धात्मा को प्रतीति में लेकर अपना प्रयोजन साध लिया है, मति-श्रुतज्ञान को आत्मज्ञान के द्वारा सम्यक् बना लिया है; अब जो कुछ वह जानता है, यह सब सम्यग्ज्ञान ही है। उसका ज्ञान पदार्थों को विपरीत नहीं साधता। अपना मोक्षमार्ग साधने का जो प्रयोजन है, वह अन्यथा नहीं होता। अहो, आत्मा-संबंधी ज्ञान में जहाँ भूल नहीं, बाहर के जाननपने में यदि कोई भूल हो जाये तो भी वह मोक्षमार्ग के साधने में रुकावट नहीं करती। आत्मा को जान लिया, तब ज्ञान सम्यक् हो गया। मिथ्यादृष्टि को बाहर का कुछ जाननपना भले हो, परन्तु उसका वह बाह्यज्ञान मोक्षमार्गरूप निज-प्रयोजन को नहीं साधता, इसलिए उसको मिथ्याज्ञान ही कहते हैं। इसतरह ज्ञान में 'सम्यक्' और 'मिथ्या' - ऐसे निज-प्रयोजन को साधने और न साधने की अपेक्षा से दो प्रकार

समझना। देखो, यह ज्ञान का प्रयोजन! शुद्धात्मारूप प्रयोजन से रहित सब जाननपना थोथा है, मोक्षमार्ग में उसकी कोई गिनती नहीं।

और भी ऐसा कहा है कि सम्यक्त्वपने की अपेक्षा से केवलज्ञान व मति-श्रुतज्ञान की जाति एक है; मति-श्रुतज्ञान को केवलज्ञान का अंश कहा है। सम्यग्दृष्टि को वह ज्ञान वृद्धिगत होते-होते केवलज्ञान होता है। मिथ्याज्ञान पलट कर यथार्थ तत्त्वार्थ-श्रद्धानसहित जो सम्यग्ज्ञान हुआ, इसकी अचिन्त्य महिमा है, यह ज्ञान मोक्ष का साधक है।

सम्यग्दृष्टि का ऐसा मति-श्रुतज्ञान जब स्वानुभव में प्रवर्ते, तब तो निर्विकल्पता होती है और जब बाहर के शुभाशुभ कार्य में प्रवर्ते, तब सविकल्पता होती है। सविकल्पता हो या निर्विकल्पता हो - सम्यग्दर्शन तो दोनों समय एक-सा ही रहता है; परन्तु ऐसा नहीं है कि निर्विकल्पता के समय सम्यग्दर्शन विशेष निर्मल हो जाये और सविकल्पता के समय उसमें कुछ मलिनता आ जाये। सविकल्प दशा होने पर भी किसी को क्षायिक सम्यक्त्व हो और किसी को निर्विकल्पता होने पर भी क्षायोपशमिक सम्यक्त्व हो। अतएव सम्यक्त्व की निर्मलता या निश्चय-व्यवहार का माप सविकल्पता के ऊपर निर्भर नहीं है। हाँ, इसमें इतना नियम अवश्य है कि सम्यक्त्व की उत्पत्ति के काल में निर्विकल्प अनुभूति अवश्य होती है और मिथ्यादृष्टि को तो निर्विकल्प अनुभूति कभी नहीं होती, परन्तु सम्यग्दृष्टि को निर्विकल्प उपयोग सदैव रहा करे - ऐसा सम्यक्त्व और निर्विकल्पता का परस्पर अविनाभावीपना भी नहीं है।

यहाँ इस प्रश्न का समाधान चल रहा है कि शुभ-अशुभ में जब उपयोग वर्तता हो, तब सम्यक्त्व का अस्तित्व कैसे बना रहता है? भाई श्री! सम्यक्त्व है, सो उपयोग नहीं है, सम्यक्त्व की यह प्रतीति है। उपयोग जब शुभाशुभ में हो, तब भी शुद्धात्मा का अन्तरंग श्रद्धान तो धर्मी को वैसा का वैसा ही रहता है; स्व-पर का जो भेदविज्ञान हुआ

है, वह तो उस वक्त भी वर्तता है। यह शुभ-अशुभ मेरा स्वभाव नहीं है, मैं तो शुद्ध चैतन्यस्वभावी ही हूँ - ऐसी निश्चित अन्तरंग श्रद्धा धर्मी को शुभ-अशुभ भाव के समय भी मिटती नहीं।

जैसे गुमाश्ता सेठ के कार्य में प्रवर्तता है, नफा-नुकसान होने पर हर्ष-विषाद भी करता है, फिर भी अन्तर में उसे भान है कि इस नफे-नुकसान का स्वामी मैं नहीं। यदि वह सेठ की सम्पत्ति अपनी ही मान ले, तब तो वह चोर कहलायेगा। उसीप्रकार धर्मात्मा का उपयोग शुभ-अशुभ में भी जाता है, शुभ-अशुभ परिणमता है, तो भी अन्तर में उसी वक्त उसको श्रद्धान है कि 'ये कार्य मेरे नहीं, इनका स्वामी मैं नहीं' शुद्धोपयोग के समय जैसी प्रतीति थी, शुभाशुभ उपयोग के समय भी वैसी प्रतीति शुद्धात्मा को वर्तती है; अतएव शुभ-अशुभ के समय भी उसे सम्यक्त्व में बाधा नहीं आती। यदि परभावों को अपना माने या देहादि परद्रव्य की क्रिया को अपनी माने तो तत्त्वश्रद्धान में विपरीतपना हो जाने से मिथ्यात्व हो जाये।

एक बात और है कि निर्विकल्पता के समय में निश्चयसम्यक्त्व और सविकल्पता के समय में व्यवहारसम्यक्त्व - ऐसा भी नहीं है। चौथे गुणस्थान में मिथ्यात्व को नष्ट करके निर्विकल्प स्वानुभूतिपूर्वक शुद्धात्मप्रतीतिरूप जो सम्यग्दर्शन प्रकटा है, वह निश्चयसम्यग्दर्शन है और यह निश्चयसम्यग्दर्शन, सविकल्प या निर्विकल्प दोनों दशा में एकरूप ही है। स्वानुभव के समय तो निर्विकल्पता होती है। सम्यग्दृष्टि को जब सम्यक्त्व की उत्पत्ति हुई, उस वक्त तो स्वानुभव एवं निर्विकल्पता होती है, परन्तु ऐसे निर्विकल्प-स्वानुभव में सदाकाल वह नहीं रह सकता। निर्विकल्पदशा ज्यादा काल नहीं टिकती; बाद में सविकल्पदशा में आने पर शुभ या अशुभ में उपयोग जाता है और शुद्धात्मप्रतीति तो उस वक्त भी चालू ही रहती है - ऐसी सम्यक्त्वी महात्मा की स्थिति

है। अपने शुद्ध आत्मस्वभाव के अलावा अन्य किसी के स्वामित्वभाव से वह कभी नहीं परिणमता।

धर्मी को शुभभाव के समय भी सम्यक्त्व होता है - ऐसा कहा, इससे ऐसा नहीं समझ लेना कि शुभभाव करते-करते सम्यक्त्व हो जायेगा। यदि उस शुभभाव को स्वभाव की चीज मानकर उसका स्वामित्व कर अथवा उस शुभभाव को सम्यक्त्व का कारण माने तो उस जीव को शुभभाव के साथ सम्यक्त्व नहीं रहता, अपितु शुभ के साथ उसे मिथ्यात्व होता है। शुभ के समय जिसे शुभ से रहित ऐसे शुद्धात्मा की श्रद्धा वर्तती है, वही सम्यग्दृष्टि है।

सम्यग्दर्शन होने के बाद यदि शुभाशुभपरिणाम हो ही नहीं, तब तो तुरन्त ही वीतरागता व केवलज्ञान हो जाये, परन्तु ऐसा सबको नहीं होता। सम्यग्दर्शन के बाद भी जबतक अपने स्वरूप में पूर्ण लीनता न हो, तबतक चारित्रदशा की कमी के कारण धर्मी के शुभ-अशुभभावरूप परिणमन होता है; धर्मी उसको अपना स्वभाव नहीं समझता एवं कर्म ने कराया - ऐसा भी नहीं मानता; अपने गुण का परिणमन इतना कम है, अतएव वह अपनी ही परिणति का अपराध है - ऐसा वह समझता है। इसप्रकार सम्यक् प्रतीतिरूप सम्यग्दर्शन उसको वर्तता है। इसतरह सम्यग्दृष्टि की सविकल्पदशा दिखायी और उस सविकल्प-दशा में भी सम्यक्त्व रहता है, यह समझाया।

(पृष्ठ : ४२-४९)

साधक को निर्विकल्प अनुभव में मति-श्रुतज्ञान कार्य करते हैं। मति-श्रुतज्ञान क्षयोपशमभावरूप है, इसलिए वह एक वक्त में एक ज्ञेय को ही जानने में प्रवर्तता है या तो स्व को जानने में उपयोग हो या पर को जानने में उपयोग हो। केवलज्ञान में तो स्व-पर सभी को एकसाथ जानने का पूरा सामर्थ्य प्रकट हो गया है, परन्तु साधक जीव के ज्ञान में अभी ऐसा सामर्थ्य खिला नहीं; इसलिए इसका जब स्व को जानने में उपयोग हो,

तब पर को जानने में उपयोग नहीं होता और जब पर को जानने में उपयोग हो, तब स्व को जानने में उपयोग नहीं होता। स्व को जानने में उपयोग न हो, इससे वहाँ अज्ञान नहीं हो जाता; क्योंकि स्वसंवेदन के समय जो ज्ञान हुआ, वह लब्धरूप से तो वर्त ही रहा है।

क्षायोपशमिक ज्ञान की शक्ति ही इतनी मन्द है कि एक समय में एक तरफ ही इसकी प्रवृत्ति होती है; अतएव वह या तो स्व को जानने में प्रवर्ते या पर को जानने में प्रवर्ते। अपने में तो ज्ञान के साथ आनन्द, प्रतीति आदि सभी गुणों का जो निर्मल परिणमन अभेद वर्तता है, उसको (अर्थात् अखण्ड आत्मा को) तन्मय होकर जानता है। स्व को जानते समय आनन्दधारा में उपयोग तन्मय हुआ है, इसलिए उस निर्विकल्पदशा में विशिष्ट आनन्द का वेदन होता है।

यह बात केवलज्ञान के समय की नहीं, अपितु गृहस्थी में रहते हुए चौथे-पाँचवें गुणस्थानवाले जीव की बात है। सातवें गुणस्थान से तो निर्विकल्प स्व-उपयोग ही रहता है; छठवें-सातवें गुणस्थानवर्ती मुनि को अन्तर्मुहूर्त में नियम से निर्विकल्प उपयोग होता है। चौथे-पाँचवें गुणस्थान में स्व-उपयोग कभी-कभी होता है। पर तरफ के उपयोग के समय में भी वहाँ स्व का ज्ञान लब्धरूप से रहता है; अतएव पहले स्वसंवेदन से आत्मस्वरूप की जो प्रतीति व ज्ञान हुआ है, उसमें कोई फर्क नहीं पड़ता।

‘एक ही ज्ञेय’ अर्थात् ‘स्वज्ञेय’ अथवा ‘परज्ञेय’ - इन दोनों में एक ऐसा अर्थ समझना। वैसे तो मतिज्ञान के विषय में बहु-बहुविध आदि अनेकप्रकार लिये हैं। एक साथ अनेक मनुष्यों की एवं पशु-पक्षी की आवाज सुनें और उनमें प्रत्येक की आवाज को भिन्न-भिन्न सुनें - ऐसी ताकत गणधरदेव की होती है, फिर भी उन्हें भी स्व एवं पर - दोनों में एकसाथ उपयोग नहीं होता; परन्तु स्व-पर की भिन्नता का जो भान

हुआ है, वह तो परज्ञेय में उपयोग के समय भी धर्मी को नहीं हटता। उपयोग यदि दो घड़ी तक स्वज्ञेय में स्थिर रहे, तब तो केवलज्ञान हो जाये; छद्मस्थ का उपयोग इतने लम्बे काल तक स्वज्ञेय में नहीं ठहरता।

यहाँ कहते हैं कि उपयोग भले ही स्व में निरन्तर न रहे, परन्तु लब्धिज्ञान तो प्रतिक्षण वर्त ही रहा है, इसलिए परज्ञेय को जानते हुए भी उसमें धर्मी को एकताबुद्धि नहीं होती; धर्मी सबसे न्यारा ही न्यारा रहता है। बाहर से देखनेवाले को तो ज्ञानी भी दूसरों के जैसा ही दिखे कि हम भी शुभ-अशुभ कर रहे हैं और हमारी तरह ये ज्ञानी भी शुभाशुभ कर रहे हैं; परन्तु भैया ! इनकी परिणति अन्तर में राग से भिन्न कुछ कार्य कर रही है, इनकी प्रतीति में-इनके ज्ञान में स्वज्ञेय को वे कभी नहीं भूलते, भले ही उपयोग कदाचित् लड़ाई में या विषय-कषाय में भी हो।

यद्यपि विशेष रूप से तो ज्ञानी को शुभराग - देव-शास्त्र-गुरु का पूजा-भक्ति स्वरूप-चिन्तन आदि ही होते हैं; तथापि अशुभ का भी इस भूमिका में सर्वथा अभाव नहीं होता। पाँचवें गुणस्थान में भी कभी-कभी अशुभभाव आ जाता है, परन्तु यहाँ तो उसी वक्त उसके अन्तर में श्रद्धा व ज्ञान की निर्मल गंगा का प्रवाह बह रहा है - यह दिखाना है। ज्ञानगंगा का यह सम्यक् प्रवाह सभी विकार को धो डालेगा और केवलज्ञान समुद्र में जा मिलेगा।

(पृष्ठ : ६०-६२)

जैसे शुद्धात्मा की प्रतीति सिद्ध भगवान के सम्यक्त्व में हैं, चौथे गुणस्थानवाले सम्यग्दृष्टि को भी शुद्धात्मा की प्रतीति वैसी ही है, उसमें कुछ भी फर्क नहीं। सिद्ध भगवान का सम्यक्त्व प्रत्यक्ष व चौथे गुणस्थान वाले का सम्यक्त्व परोक्ष - ऐसा भेद नहीं है अथवा स्वानुभव के समय सम्यक्त्व प्रत्यक्ष और बाहर में शुभाशुभ उपयोग के समय सम्यक्त्व परोक्ष - ऐसा भी नहीं है। चाहे शुभाशुभ में प्रवर्तता हो या स्वानुभव के द्वारा शुद्धोपयोग में प्रवर्तता हो, सम्यग्दृष्टि का सम्यक्त्व तो सामान्य

वैसा का वैसा है अर्थात् शुभाशुभ के समय सम्यक्त्व में कोई मलिनता आ गई और स्वानुभव के समय सम्यक्त्व में कोई निर्मलता बढ़ गई - ऐसा नहीं है।

(पृष्ठ : ७२-७३)

विशेष यह है कि चौथी भूमिका वगैरह में जो निश्चय-व्यवहार एकसाथ हैं; उनमें भी जो निश्चय-सम्यक्त्वादि है, वह अरागभाव है और जो व्यवहार-सम्यक्त्वादि है, वह सरागभाव है। वे दोनों एक भूमिका में एक साथ विद्यमान रहते हुए भी उनमें जो रागभाव है, वह साथ के अरागभाव को मलिन नहीं करता तथा अरागभाव का कारण भी नहीं होता। दोनों की धारा ही अलग-अलग है; दोनों के कार्य भी जुड़े हैं। रागभाव तो बंध का कारण होता है और अरागभाव मोक्ष का कारण होता है। साधक को ऐसी दोनों धाराओं का प्रवाह एकसाथ चलता है; परन्तु जहाँ अकेला शुभराग है, रागरहितभाव बिल्कुल नहीं है तो वहाँ धर्म भी नहीं है।

चतुर्थ गुणस्थान में विद्यमान राग सम्यग्दर्शन की शुद्धि को नष्ट नहीं कर सकता। वह राग यदि व्यक्त हुई शुद्धता को नष्ट करता हो, तब तो किसी को साधकपना ही न हो सके। छठवें गुणस्थान में जो संज्वलन राग है, वह वहाँ की शुद्धता को नष्ट नहीं कर सकता। ऐसी दोनों धारायें एक साथ रहती हैं, तो भी एक नहीं हो जाती एवं साधक को वीतरागता होने के पूर्व दोनों में से कोई भी धारा सर्वथा छूट नहीं जाती। यदि शुद्धता की धारा टूटे तो साधकपना ही छूटकर अज्ञानी हो जाये और यदि राग की धारा टूट जाये तो तुरन्त ही वीतरागता होकर केवलज्ञान हो जाये। इसप्रकार साधक को निश्चय परिणामन तो निरन्तर चल रहा है। चौथे गुणस्थान से प्रारम्भ होकर प्रत्येक गुणस्थान में उस-उस भूमिका के योग्य शुद्धधारा सतत चलती रहती है।

(पृष्ठ : ११९-१२०)

सम्यग्दर्शन के बाद भी जीव के दो प्रकार के भाव होते हैं - एक

रागरहित, दूसरा रागसहित। जो सम्यग्दर्शन है, वह स्वयं रागरहित भाव है; सम्यग्दर्शन हुआ, वह भी रागरहित है। चारित्र्य परिणति में अभी कुछ राग है; परन्तु ज्ञान का उपयोग जब स्व में लगे, तब बुद्धिपूर्वक राग का वेदन उस उपयोग में नहीं होता, वह उपयोग तो आनन्द के ही वेदन में मग्न है। अतएव उस वक्त अबुद्धिपूर्वक का ही राग है तथा जब उपयोग अन्य ज्ञेय में लगा हो, तब सविकल्पदशा में जो राग है, वह बुद्धिपूर्वक का है; लेकिन उस समय भी सम्यग्दर्शन स्वयं तो रागवाला हुआ नहीं है। भले ही कदाचित् उस वक्त 'सराग सम्यक्त्व' नाम दिया जाये तो भी वहाँ दोनों का भिन्नपना समझ लेना कि सम्यग्दर्शन अलग परिणाम है और राग अलग परिणाम है; एक ही भूमिका में 'राग' व 'सम्यक्त्व' दोनों साथ होने से वहाँ 'सराग सम्यक्त्व' कहा है। कहीं राग सम्यक्त्व नहीं है और न सम्यक्त्व स्वयं सराग है। चौथे गुणस्थान का सम्यक्त्व-परिणाम है, वह भी वीतराग ही है और वीतरागभाव ही मोक्ष का साधन होता है, सरागभाव मोक्ष का साधन नहीं होता।

सम्यग्दृष्टि को एक साथ दोनों धारयें होने पर भी एक मोक्ष की कारण व दूसरी बंध की कारण है। इन दोनों को भिन्न-भिन्न रूप से पहचानना चाहिए। बंध-मोक्ष के कारण भिन्न-भिन्न हैं, उनको यदि एक दूसरे में मिला दें तो तत्त्वश्रद्धान में भूल हो जाये। सम्यग्दर्शन से सहित राग को भी जो मोक्ष का कारण मान लेता है, उसने तो बंध के कारण को ही मोक्ष का कारण मान लिया। ऐसे जीव को शुद्धात्मा का ध्यान या रागरहित निर्विकल्पदशा नहीं होती, अतः उसे मोक्षमार्ग नहीं होता। वह मोक्षमार्ग के बहाने से भ्रम से बंधमार्ग का ही सेवन कर रहा है।

अथवा जीव के परिणाम तीन प्रकार के हैं - शुद्ध, शुभ व अशुभ। इनमें मिथ्यादृष्टि को अशुभ की मुख्यता कही है, क्वचित् शुभ भी उसके होता है, लेकिन शुद्धपरिणति उसके नहीं होती। शुद्ध परिणाम

का प्रारम्भ सम्यग्दर्शनपूर्वक ही होता है। चतुर्थादि गुणस्थान में शुभ की मुख्यता कही है, परन्तु साथ में आंशिक शुद्ध परिणति तो सदैव रहती है। यद्यपि शुद्ध-उपयोग कभी-कभी होता है, परन्तु शुद्धपरिणति तो सदैव रहती है। सातवें गुणस्थान से लेकर ऊपर के सभी गुणस्थानों में अकेला शुद्धोपयोग ही रहता है। परिणति में जितनी शुद्धता है, उतना धर्म है, उतना ही मोक्षमार्ग है। जीव जब अन्तर्मुख होकर अपूर्व धर्म का प्रारम्भ करता है, साधकभाव की शुरुआत करता है, तब उसे निर्विकल्प शुद्धोपयोग होता है - ऐसे निर्विकल्प स्वानुभव के द्वारा ही मोक्षमार्ग के दरवाजे खुलते हैं।

अहो, यह तो अत्यन्त प्रयोजनभूत, स्वानुभव की उत्तम बात है। स्वानुभव की ऐसी सरस वार्ता महाभाग्य से ही सुनने को मिलती है - अहो ! ऐसी अनुभवदशा की तो बात ही क्या !! (पृष्ठ : १२१-१२३)

* परमार्थ वचनिका प्रवचन से -

स्वानुभव से आत्मस्वरूप को जाना है, इसीकारण धर्मीजीव पर की क्रिया को अथवा पर के स्वरूप को अपना नहीं मानता; इनसे भिन्न ही अपने ज्ञानस्वरूप को जानता है और ऐसे निजस्वरूप के ध्यान-विचाररूप क्रिया में वर्तता है - यही उसका मिश्रव्यवहार है।

प्रश्न :- इसको मिश्रव्यवहार क्यों कहा?

उत्तर :- चूँकि साधक को अभी पूर्ण शुद्धता हुई नहीं है, उसकी पर्याय में कुछ शुद्धता और कुछ अशुद्धता - दोनों साथ-साथ वर्तती हैं, इसलिये उसको मिश्रव्यवहार कहा।

प्रश्न :- मिश्रव्यवहार तो चौथे से बारहवें गुणस्थान पर्यन्त कहा है; वहाँ बारहवें गुणस्थान में तो किंचित् भी रागादि अशुद्धता नहीं है; फिर वहाँ मिश्रपना कैसे कहा?

उत्तर :- राग-द्वेष-मोहरूप अशुद्धता वहाँ नहीं रही - यह बात

तो ठीक; परन्तु ज्ञानादि गुणों की अभी अवस्था अपूर्ण है अर्थात् अल्प-ज्ञानादि की अपेक्षा से (उदयभावरूप अज्ञानभाव है इस अपेक्षा से) अशुद्धता परिगणित कर मिश्रभाव कहा।

प्रश्न :- यदि ऐसा है तो केवली भगवान के भी योग का कम्पन आदि उदयभाव है, इसलिये उनके भी मिश्रपना कहना चाहिये?

उत्तर :- नहीं, केवली भगवान के ज्ञानादि परिणति सम्पूर्ण शुद्ध हो गई है और अब जो योग का कम्पन आदि है, वह नवीन कर्मसम्बन्ध का कारण नहीं होता अर्थात् उनके अकेली शुद्धता ही मानकर शुद्धव्यवहार कहा है।

सम्यग्दृष्टि को मिश्रव्यवहार कहा है। वहाँ आत्मा और शरीर की मिलकर क्रिया होती है - ऐसा 'मिश्र' का अर्थ नहीं है; किन्तु अपनी पर्याय में किंचित् शुद्धता और किंचित् अशुद्धता यह दोनों एकसाथ होने से मिश्र कहा है।

आत्मा में सम्यग्दर्शन होते ही चौथे गुणस्थान से आंशिक शुद्धता प्रगटी है, वहाँ से लेकर बारहवें गुणस्थान तक साधकदशा है - ऐसी परिणतिवाले जीव को 'मिश्रनिश्चयात्मकद्रव्य' कहा है।

प्रश्न :- सम्यग्दृष्टि तो अपने शुद्धद्रव्य को जानता है, तो भी उसको 'शुद्ध-अशुद्ध-मिश्रनिश्चयात्मकद्रव्य' क्यों कहा?

उत्तर :- सम्यग्दृष्टि की निश्चयदृष्टि में - प्रतीति में कहीं शुद्धाशुद्ध आत्मा नहीं है, उसकी दृष्टि में तो शुद्धात्मा ही है; परन्तु पर्याय में अभी उसको सम्यग्दर्शन-ज्ञान तथा स्वरूपाचरणचारित्रादि शुद्धांशों के साथ रागादिक अशुद्धांश भी हैं, अतः उसकी शुद्ध और अशुद्ध - ऐसी मिश्रभावरूप अवस्था है; उस मिश्रभाव के साथ अभेदता मानकर उस द्रव्य को भी वैसा 'मिश्रनिश्चयात्मक' कहा है। द्रव्यदृष्टि से देखने पर तो द्रव्य शुद्ध ही है, अशुद्धता उसमें है ही नहीं। (पृष्ठ : २९, ३०)

पर्याय में शुद्ध-अशुद्धपना आदि प्रकार हैं। जब ऐसा ज्ञायकस्वभाव उपास्य बनाया जावे तब पर्याय शुद्ध होती है और जब इस स्वभाव को भूलकर विकार में ही लीनता रहे, तब पर्याय अशुद्ध होती है। इस शुद्ध अथवा अशुद्ध पर्याय के साथ अभेदता से द्रव्य को भी शुद्ध, अशुद्ध अथवा मिश्र कहा गया है, क्योंकि उस-उस काल में वैसे भावरूप द्रव्य स्वयं परिणमा है, द्रव्य का ही वह परिणमन है, द्रव्य से भिन्न किसी अन्य का परिणमन नहीं है।

देखो, साधकदशा में शुद्धता और अशुद्धता दोनों ही एक साथ एक पर्याय में हैं, तथापि दोनों की धारा भिन्न-भिन्न है, शुद्धता शुद्धद्रव्य के आश्रय से है और अशुद्धता पर के आश्रय से है - दोनों की जाति जुदी है। दोनों साथ होने पर भी जो अशुद्धता है, वह वर्तमान में प्रगट हुई शुद्धता का नाश नहीं कर देती - ऐसी मिश्रधारा साधक के होती है।

तेरहवें-चौदहवें गुणस्थान में केवली भगवान पूर्ण यथाख्यातचारित्र के बल से शुद्धात्मस्वरूप में ही रमणशील हैं। यद्यपि यथाख्यातचारित्र तो बारहवें गुणस्थान में ही पूर्ण था, परन्तु वहाँ केवलज्ञान नहीं था; अब केवलज्ञान और अनन्तसुख प्रगट होने से पूर्ण इष्टपद की प्राप्ति हुई।

साध्य था, वह सध गया और आवरण का अत्यन्त अभाव हो गया; इसलिये शुद्धपरिणति को शुद्धव्यवहार कहा। तेरहवें गुणस्थान में योगारूढ़ दशा अर्थात् योगों का कम्पन है और चौदहवें में कम्पन नहीं है, परन्तु वहाँ अभी असिद्धत्व है अर्थात् संसारीपना है, अतः वहाँ तक व्यवहार कहा गया है।

सिद्ध भगवान संसार से पार हैं, इसलिये वे व्यवहारातीत हैं। जहाँ तक असिद्धपना है, वहाँ तक व्यवहार है, सिद्ध जीव व्यवहार-विमुक्त हैं। वैसे तो दृष्टि अपेक्षा से सम्यग्दृष्टि को भी व्यवहार-विमुक्त कहा है, परन्तु यहाँ तो परिणति अपेक्षा से बात है। जहाँ तक संसार है वहाँ तक

व्यवहार परिणति मानी गई है, सिद्ध को व्यवहार से रहित कहा है। शास्त्रों में जहाँ जो विवक्षा हो वही समझना चाहिए।

इसप्रकार संसारी जीव की अवस्था के अशुद्ध, मिश्र और शुद्ध - तीन भेद बतलाये। संसार में से मोक्ष जानेवाले प्रत्येक जीव की यह तीनों अवस्थायें हो जाती हैं।

अशुद्धता तो अज्ञानदशा में सर्व संसारी जीवों के अनादि से वर्त रही है; पश्चात् आत्मज्ञान होने पर साधन-भावरूप मिश्रदशा प्रगट होती है, और शुद्धता वृद्धिगत होते-होते केवलज्ञान होनेपर साध्यरूप पूर्ण शुद्धदशा प्रगट होती है, पश्चात् अल्पकाल में मोक्षपद प्राप्त होता है।

अशुद्धदशा तो आस्रव-बन्धतत्त्व है, मिश्रदशा में जितनी शुद्धता है, उतनी संवर-निर्जरा है तथा जो अल्प-अशुद्धता है, वह आस्रव-बन्ध का ही है। पूर्ण शुद्धता प्रगट हुई वह भावमोक्ष है। यहाँ द्रव्यमोक्षरूप सिद्धदशा की बात नहीं है, क्योंकि यहाँ समस्त चर्चा संसारी जीवों की अपेक्षा से कहीं गई है।

अज्ञानी के मात्र अशुद्धता है; चौथे गुणस्थान से कुछ शुद्धता और साथ में राग भी है - इसप्रकार मिश्रपना है, बारहवें गुणस्थान में वीतरागता है अर्थात् वहाँ राग नहीं है; परन्तु ज्ञानादिगुणों की अवस्था अपूर्ण है, इसलिए वहाँ भी मिश्रभाव कहा।

केवलज्ञानी के ज्ञानादि पूर्ण हो गये हैं, इसलिए शुद्धता मानी है; तथापि अभी (१३-१४ वें गुणस्थान में) सिद्धपना नहीं है अर्थात् असिद्धत्व होने से उनको भी व्यवहार में परिगणित किया; क्योंकि शरीर के साथ अभी उसप्रकार का सम्बन्ध है और परिणति में उसप्रकार की योग्यता है। जब सिद्धदशा हुई तब व्यवहार छूट गया और व्यवहार छूटा, वहाँ संसार छूटा अर्थात् वह जीव व्यवहारातीत हुआ, वहाँ संसारातीत हुआ।

(पृष्ठ : ३०-३३)

जिसने अध्यात्म विद्या जानी है, ऐसे ज्ञानी के मिश्रव्यवहार कहा है अर्थात् शुद्धता और अशुद्धता - दोनों ही उसके एकसाथ होती है; किन्तु एक साथ होने पर भी शुद्धता और अशुद्धता एक दूसरे में मिल नहीं जाती।

जो अशुद्धता है, वह कहीं शुद्धतारूप नहीं हो जाती और जो शुद्धता है, वह कहीं अशुद्धतारूप (रागादिरूप) नहीं हो जाती। एक साथ होने पर भी दोनों की भिन्न-भिन्न धारा है।

इसप्रकार 'मिश्र' शब्द दोनों का भिन्नत्व सूचक है, एकत्व सूचक नहीं। उसमें जो शुद्धता है, उससे धर्मी जीव मोक्षमार्ग को साधता है और जो अशुद्धता है, उसको वह हेय समझता है। (पृष्ठ : ७७)

*** मीक्षमार्ग प्रकाशक सातवें अध्याय के आधार से -**

प्रश्न :- मुनिराज को एक ही काल में ये दोनों भाव होते हैं, सो वहाँ उनको बन्ध भी है और संवर-निर्जरा भी हैं, वह किसप्रकार ?

उत्तर :- ये दोनों भाव मिश्ररूप हैं। वहाँ मुनिराज को चिदानन्द आत्मा के आश्रय से जो वीतरागी दशा प्रगट हुई, वह संवर अर्थात् अकषाय परिणति वीतरागभावरूप यथार्थ मुनिपना है और जितना राग शेष है, वह आस्रव है, व्यवहार है, बन्ध का कारण है।

वहाँ सर्वथा व्यवहार न हो तो केवलज्ञानदशा होनी चाहिए और यदि व्यवहार से लाभ माने तो वह मिथ्यादृष्टि है; किन्तु साधक जीव के अंशतः शुद्धता और अशुद्धता होने से वह शुभराग को हेय मानता है।

प्रश्न :- फिर शुभराग करना चाहिए या नहीं।

समाधान :- हे भाई ! तुम किस राग को कर सकते हो ? चारित्र गुण की जो क्रमबद्ध पर्याय होनी है, वही होगी; उसे किसीप्रकार से बदला नहीं जा सकता। ज्ञानी को शुभराग बदलने या करने की दृष्टि नहीं है, उसे तो अपने स्वभाव में एकाग्र होने की ही भावना है।

आचार्य उमास्वामी ने भी 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' कहकर

सात तत्त्वों के यथार्थ श्रद्धान को ही सम्यग्दर्शन कहा है। जीवाजीवादि सात तत्त्वों के यथार्थ भावभासन बिना कर्म का उपशम, क्षयोपशम तथा क्षय नहीं हो सकता। पंचास्तिकायसंग्रह, गाथा १७३ की टीका में आचार्य जयसेन ने तत्त्वार्थसूत्र को द्रव्यानुयोग का शास्त्र माना है और द्रव्यानुयोग में द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों की व्याख्या समाहित है।

जिसे तत्त्वार्थ का यथार्थ भावभासन नहीं है - ऐसे मिथ्यादृष्टि जीव की यह चर्चा है। यहाँ नामनिक्षेप अथवा आगम द्रव्यनिक्षेप से तत्त्वश्रद्धा कही गई है। आगम से धारणा करें; किन्तु स्वयं को भावभासन नहीं हो तो श्रद्धा सम्यक् नहीं है। यहाँ तो निश्चय सम्यग्दर्शन की बात कही है।

एक क्षण में जो मिश्रभाव होता है उसमें दो कार्य तो हो सकते हैं; किन्तु महाव्रतादि परिणामरूप जो आस्रवभाव हैं, उन्हें संवर-निर्जरा मानना यह भ्रम है।

अंतर से निर्विकल्प शांति और आनन्द की उत्पत्ति हो वह संवर है, तथापि जो प्रशस्त रागभाव आस्रव का कारण है, उसे संवर-निर्जरा का कारण मानना, यह संवरतत्त्व संबंधी भूल है।

शुभराग संवर नहीं, अपितु आस्रवभाव है। आत्मा में पंच महाव्रत, भक्ति आदि के परिणाम शुभास्रव (शुभराग) है; इस शुभराग को ही कोई आस्रव और संवर दोनों स्वीकारें, तो यह भूल है। एक शुभराग से आस्रव तथा संवर दोनों कैसे हो सकते हैं? अर्थात् नहीं हो सकते।

मिश्रभाव का ज्ञान सम्यग्दृष्टि को होता है; किन्तु वहाँ जो शुभराग है, वह धर्म नहीं है। 'मैं ज्ञायक हूँ' - ऐसे स्वभाव श्रद्धा-ज्ञान से जितना वीतरागभाव हुआ वह संवर है, धर्म है और उसीसमय जो राग शेष है, वह आस्रव है। एक ही समय में ऐसा मिश्ररूपभाव विद्यमान होनेपर भी ज्ञानी जीव उसमें से वीतराग-अंश और सराग-अंश - दोनों को भिन्न-भिन्न जानता है।

दिगम्बर सम्प्रदाय में रहते हुए भी कोई जीव प्रथमतः व्यवहार अंगीकार करे और पश्चात् निश्चय होता है - ऐसा कहे तो यह संभव नहीं है। व्यवहाररूप शुभराग तो आस्रव है और आस्रव कदापि संवर का कारण नहीं हो सकता। व्यवहार करते-करते निश्चय प्रगट होता है - ऐसी दृष्टि से ही तो सनातन जैन परम्परा से पृथक् होकर श्वेताम्बरमत चल निकला है। राग करते-करते धर्म प्रगट होगा, व्यवहार करते-करते निश्चय होगा - ऐसा माननेवाला जीव श्वेताम्बर जैसे ही अभिप्रायवाला है, उसे तो दिगम्बर जैनधर्म की खबर ही नहीं है।

राग करते-करते सम्यग्दर्शन हो जायेगा; अतः प्रथमतः व्यवहार-क्रिया को सुधारे, पश्चात् धर्म होगा - ऐसा माननेवाले ने दिगम्बर जैन शासन का स्वीकार ही नहीं किया है। अन्तर में राग का आदर हो और अपने को दिगम्बर जैन कहे, उसे तो जैनधर्म की खबर ही नहीं है। वह व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि है।

आत्मद्रव्य वस्तु एक समय में सामान्य शक्ति का भण्डार है, उसमें विशेषरूप अनंत पर्यायें हैं। उस अभेद आत्मद्रव्य की सामान्य दृष्टि करे तो पर्याय में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रकट होता है; किन्तु यह जीव उस अभेद का तो आश्रय करता नहीं और व्यवहार के आश्रय से कल्याण हो जायेगा - ऐसा मानता है। वास्तव में वह जीव अनादिरूढ़ व्यवहार-विमूढ़ मिथ्यादृष्टि है।

द्रव्यस्वभाव की दृष्टिपूर्वक जिसे निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्रगट हुआ, उससमय वहाँ जो राग शेष है, उसे उपचार से व्यवहार कहा जाता है; किन्तु धर्मी की दृष्टि में उसका रंचमात्र भी आदर नहीं है।

पर्यायदृष्टि से आत्मा राग से अभिन्न और त्रिकाली द्रव्यदृष्टि से राग से भिन्न ज्ञायक स्वरूप है। वहाँ त्रिकाली की दृष्टि करके राग को हेय कहकर व्यवहार कहा गया है।

मिथ्यादृष्टि जीव शुभ में वर्तते हुए शुभभाव में ही धर्म मानता है; किन्तु वह व्यवहाराभासी है। निश्चयधर्म की प्रतीति बिना राग में व्यवहार धर्म का आरोप भी कहाँ से आयेगा ? निश्चयधर्म के बिना किया गया समस्त व्यवहार, व्यवहार नहीं; व्यवहाराभास है।^१”

शक्तियों का संग्रहालय भगवान आत्मा

अहा ! आत्मा का ज्ञान व आनन्द ही असली, अकृत्रिम व स्थिर रहनेवाला स्वभाव है। उसके अन्तर में जहाँ दृष्टि गई, वहीं पर्याय में उस ज्ञान व आनन्द की निर्मल दशा प्रगट हो जाती है। वह निर्मल पर्याय ही अपना 'स्व' है। अहा ! द्रव्य-गुण व उसकी निर्मल पर्याय ही आत्मा के 'स्व' हैं तथा उनका स्वामी स्वयं धर्मात्मा है।

देखो, आत्मा में अनंत शक्तियाँ हैं, उनमें एक 'स्व-स्वामी सम्बन्ध' शक्ति है। इस शक्ति के कारण ही जो त्रिकाली शुद्ध द्रव्य है, वह मैं हूँ। आत्मद्रव्य स्व, त्रिकाली पूर्ण शुद्ध गुण मेरे स्वरूप हैं तथा उनकी जो निर्मल शुद्धस्वभाव पर्याय प्रगट होती है, वह भी मेरे 'स्व' है अर्थात् अपने शुद्धद्रव्य-गुण और शुद्ध पर्याय मेरे अपने स्व हैं तथा धर्मी आत्मा उनका स्वामी है।

यहाँ कहते हैं कि ज्ञानी पर का ग्रहण-सेवन नहीं करता। भाई ! परमार्थ से राग का कर्तापन व राग का सेवन आत्मा के ही है ही नहीं। आत्मा में राग है ही कहाँ, जो वह राग को करे या राग का सेवन करे। विचारे अज्ञानी को अपने स्वरूप की खबर नहीं है। स्वयं सच्चिदानन्द प्रभु है। आत्मा स्वयं शाश्वत ज्ञान व आनन्दरूप लक्ष्मी का भण्डार है। अहाहा ! ऐसे स्वरूप को स्वीकार करनेवाला धर्मी सुख के मार्ग में है, वह दया-दान आदि के विकल्पों को अपना मानकर सेवन नहीं करता। बस, केवल ज्ञाता-दृष्टा भाव से जानता है कि ये भाव भी हैं और परपने हैं। ऐसा जाननेवाला ही यथार्थ सम्यग्दृष्टि है।

- प्रवचनरत्नाकर भाग ६, पृष्ठ :

२७२

१. मोक्षमार्ग प्रकाशक की किरणें, भाग-२, पृष्ठ : २१४-२१७

(मोक्षमार्गप्रकाशक - अध्याय ७, पृष्ठ : २५१ के आधार से पर पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन)

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के अमृत वचन

जाग ! जाग रे जाग !! प्रातः हो गई है, अब रात्रि कहाँ ? जो तू इसप्रकार अचेत सो रहा है ? जिसप्रकार किसी को भंयकर विषधर सर्प ने उस लिया हो और गारुड़ी (मंत्रशास्त्री) ऐसे बलवत्तर मंत्र फैंके कि वह सर्प बिल में से बाहर आकर उस काटे हुए मनुष्य का विष चूस ले।

उसीप्रकार चैतन्यप्रभु को अनादिकाल से अज्ञानरूपी महाविष चढ़ रहा है। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य उसे जागृत करते हुए कहते हैं कि हे चेतन ! तू जाग !! जाग रे जाग !! यह समयसार के दैवी मंत्र तेरे शुद्धात्म-स्वरूप को दिखाकर अनादिकाल से चढ़े हुए विष को उतार देंगे। अब सोने का समय नहीं है। जाग ! जाग रे जाग !! अपने चैतन्य को देख !

सघन वृक्षों के वन में छाया माँगनी नहीं पड़ती, स्वयं मिलती है वैसे पूर्णानन्द स्वभावी आत्मा के पास याचना नहीं करना पड़ती; परन्तु उस पर दृष्टि पड़ते ही आनन्द स्वयं प्रगट हो जाता है।

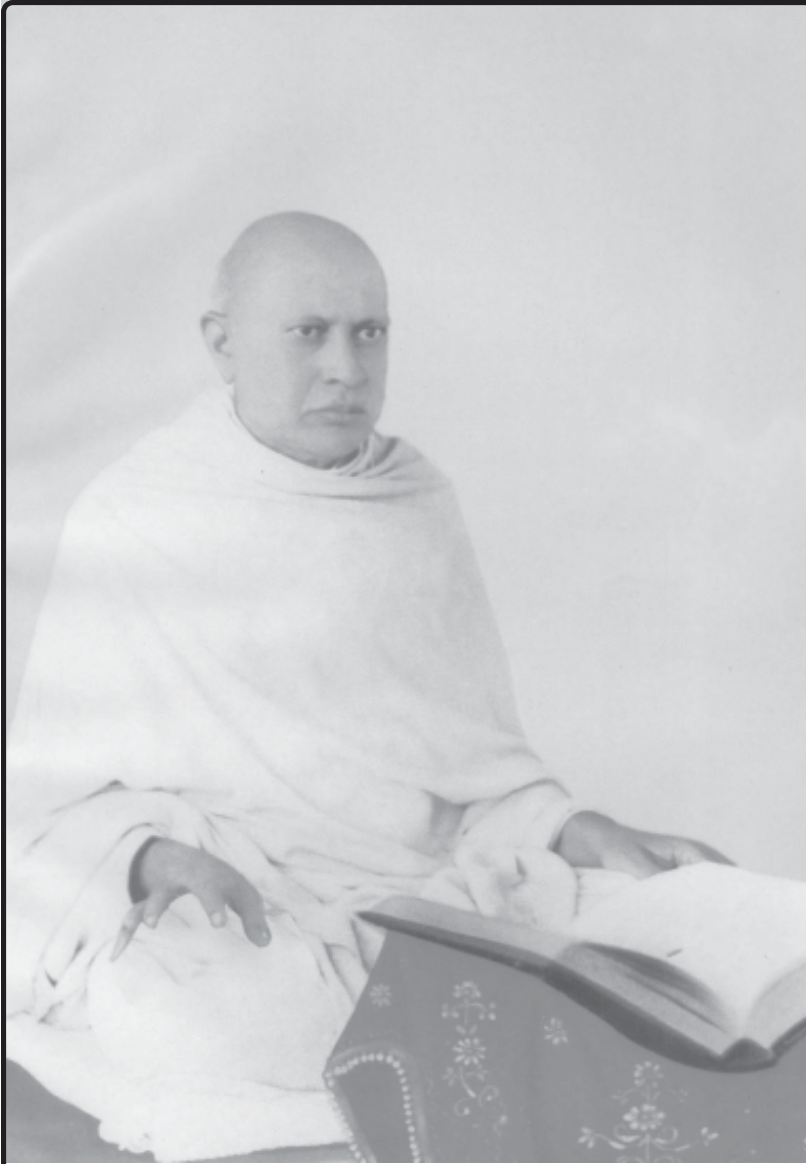
हे जिनेन्द्र ! आप वीतराग हैं, इसलिए किसी को कुछ देते नहीं और किसी से कुछ लेते नहीं; परन्तु जो आपकी शरण लेता है उसे वृक्ष की छाया के समान स्वयं शरण मिल जाती है। आत्मद्रव्य की दृष्टि करनेवाला निःशंक है कि आत्मा कृपा करेगा ही।

पहले विकल्प सहित पक्का निर्णय कर कि राग से, निमित्त से, खण्ड-खण्ड ज्ञान से या गुण-गुणी के भेद से आत्मा का ज्ञान नहीं होता। पहले ऐसे निर्णय का पक्का स्तम्भ तो रोप ! इससे वीर्य का परसन्मुख प्रवाह रुक जाएगा, भले अभी स्व-सन्मुख होना बाकी है। सविकल्प निर्णय में भी मैं विकल्परूप नहीं हूँ - ऐसा दृढ़ निर्णय तो कर ! निर्णय पक्का होने पर राग लँगड़ा हो जाएगा, राग का जोर टूट जाता है। सविकल्प निर्णय में स्थूल विपरीतता और स्थूल कर्तव्य छूट जाता है और स्वानुभव होने पर सम्यक् निर्णय हो जाता है।

हमारे यहाँ प्राप्त महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

मोक्षशास्त्र/चौबीस तीर्थकर महापुराण
 बृहद जिनवाणी संग्रह/समयसार (ज्ञायकभावप्रबोधिनि)
 रत्नकरण्डश्रावकाचार/समयसार
 मोक्षमार्ग प्रवचन भाग-१, २, ३, ४
 प्रवचनसार/क्षत्रचूड़ामणि
 समयसार नाटक/मोक्षमार्ग प्रकाशक
 सम्यज्ञानचन्द्रिका भाग २ (पूर्वार्द्ध + उत्तरार्द्ध) एवं भाग ३
 बृहद द्रव्यसंग्रह/जिनेन्द्र अर्चना
 दिव्यध्वनिसार प्रवचन/नियमसार
 योगसार प्रवचन/तीनलोकमंडल विधान
 समयसार कलश/चिन्तन की गहराईयाँ
 प्रवचनरत्नाकर भाग १ से ११ तक
 नयप्रज्ञापन/समाधितंत्र प्रवचन
 पं. टोडरमल व्यक्तित्व और कर्तृत्व
 समयसार अनुशीलन सम्पूर्ण भाग १, २, ३, ४, ५
 आचार्य अमृतचन्द्र : व्यक्तित्व और कर्तृत्व
 पंचास्तिकाय संग्रह/सिद्धचक्र विधान
 ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव
 भावदीपिका/कार्तिकेयानुप्रेक्षा
 परमभावप्रकाशक नयचक्र
 पुरुषार्थसिद्ध्युपाय/ज्ञानगोष्ठी
 सूक्तिसुधा/आत्मा ही है शरण/आत्मानुशासन
 संस्कार/इन भावों का फल क्या होगा
 इन्द्रध्वज विधान/ध्वलासार
 रामकहानी/गुणस्थान विवेचन
 सुखी जीवन/विचित्र महोत्सव
 सर्वोदय तीर्थ
 सत्य की खोज/बिखरे मोती
 निर्विकल्प आत्मानुभूति के पूर्व
 तीर्थकर भगवान महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ
 श्रावकधर्मप्रकाश/कल्पद्रुम विधान
 वी.वि. पाठमाला भाग १, २, ३
 वी.वि. प्रवचन भाग १ से ६ तक
 तत्त्वज्ञान तरंगणी/रत्नत्रय विधान
 भक्तामर प्रवचन/बारह भावना : एक अनुशीलन
 धर्म के दशलक्षण/विदाई की बेला
 नवलब्धि विधान/बीस तीर्थकर विधान

पंचमेरु नंदीश्वर विधान/रत्नत्रय विधान
 सुखी होने का उपाय भाग १ से ८ तक
 जैनतत्त्व परिचय/करणानुयोग परिचय
 आ. कुन्दकुन्द और उनके टीकाकार
 कालजयी बनारसीदास/रक्षाबन्धन और दीपावली
 बालबोध भाग १, २, ३/जिन खोजा तिन पाईयाँ
 तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग १, २/आध्यात्मिक भजन संग्रह
 छहढाला (सचित्र)/भ. ऋषभदेव/शीलवान सुदर्शन
 प्रशिक्षण निर्देशिका/जैन विधि-विधान
 क्रमबद्धपर्याय/दृष्टि का विषय/ये तो सोचा ही नहीं
 बारसाणुवेक्खा/चौबीस तीर्थकर पूजा
 गागर में सागर/आप कुछ भी कहो
 पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव
 जैनधर्म की कहानियाँ भाग १ से १५ तक
 अहिंसा के पथ पर/जिनवरस्य नयचक्रम्
 णमोकार महामंत्र/वीतराग-विज्ञान प्रवचन भाग ५
 चौसठ ऋद्धि विधान/कारणशुद्धपर्याय
 दशलक्षण विधान/आचार्य कुन्दकुन्ददेव
 पंचपरमेष्ठी विधान/विचार के पत्र विकार के नाम
 आचार्य कुन्दकुन्द और उनके पंच परमागम
 परीक्षामुख/मुक्ति का मार्ग/पश्चात्ताप
 युगपुरुष कानजीस्वामी/सामान्य श्रावकाचार
 अलिंगग्रहण प्रवचन/जिनधर्म प्रवेशिका
 मैं कौन हूँ/सत्तास्वरूप/वीर हिमाचलतैं निकसी
 समयसार : मनीषियों की दृष्टि में
 व्रती श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ/पदार्थ-विज्ञान
 मैं ज्ञानानन्दस्वभावी हूँ/महावीर वंदना (कैलेण्डर)
 वस्तुस्वातंत्र्य/भरत-बाहुबली नाटक
 शास्त्रों के अर्थ समझने की पद्धति
 सुख कहाँ है/सिद्धस्वभावी ध्रुव की ऊर्ध्वता
 मैं स्वयं भगवान हूँ/णमोकार एक अनुशीलन
 रीति-नीति/गोली का जवाब गाली से भी नहीं
 समयसार कलश पद्धानुवाद/अष्टपाहुड़
 योगसार पद्धानुवाद/कुन्दकुन्दशतक पद्धानुवाद
 अर्चना/शुद्धात्मशतक पद्धानुवाद
 षट्कारक अनुशीलन/अपनत्व का विषय



आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी

हम तो उनके दासानुदास हैं

“मुनिराज तो चलते-फिरते सिद्ध हैं, हम तो उनके दासानुदास हैं” उक्त शब्द पूज्य स्वामीजी ने तब कहे जब उनसे पूछा गया कि कुछ लोग कहते हैं कि आप मुनिराजों को नहीं मानते, उनका अपमान करते हैं, उनकी निन्दा करते हैं।

अपनी बात को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा - “अपमान तो हम किसी का भी नहीं करते, निन्दा भी किसी की नहीं करते; फिर मुनिराजों की निन्दा करने का तो प्रश्न ही कहाँ उठता है ? शुद्धोपयोग की भूमिका में झूलते हुए नग्न दिगम्बरपरम पूज्य मुनिराज तो एक प्रकार से चलते-फिरते सिद्ध हैं, हम तो उनके दासानुदास हैं। उनकी चरणरज अपने मस्तक पर धारण कर कौन दिगम्बर जैन अपने को भाग्यशाली नहीं मानेगा ?”

कहते-कहते जब वे भावमग्न हो गये तब मैंने उनकी मग्नता को भंग करते हुए कहा - “आजकल कुछ लोगों द्वारा यह प्रचार बहुत जोरों से किया जा रहा है कि आप मुनिविरोधी हैं।”

तब वे अत्यन्त गम्भीर हो गये और बोले - “मुनिराज तो संवर और निर्जरा के मूर्तिमान स्वरूप हैं। मुनिविरोध का अर्थ है - संवर और निर्जरा तत्त्व की अस्वीकृति। जो सात तत्त्वों को भी न माने वह कैसा जैनी ? हमें तो उनके स्मरण मात्र से रोमांच हो आता है।

‘णमो लोए सव्वसाहूणं’ के रूप में हम तो सभी त्रिकालवर्ती मुनिराजों को प्रतिदिन सैकड़ों बार नमस्कार करते हैं।”

- चैतन्य चमत्कार, पृष्ठ : ३५-

३६

(दिनांक २७/१२/१९७७ को सोनगढ़ में स्वामीजी से डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल द्वारा लिये गये चौथे इन्टरव्यू का अंश)